

वर्ष : 38, पुनर्प्रकाशन वर्ष : 1, अंक - 4, अप्रैल-जून 2014

विचार, विश्लेषण, शोध एवं सृजन की

# अभिव्यंजना



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 50 रुपये

उस पार से...



मानवता को पथार्थ में रूपायित करने वाले रचनाकार

महानन माधव मुक्तिबोध

(1917-1964)

स्मृति-शेष

मुक्तिबोध ने अधिस्वमित के नौखिम को उठाने का संकल्प लिया था और तन्नाम जहाँजहाँ के बावजूद जीधन पर्यन्त उस पर कायम रहे। उन्होंने मानवता में पथार्थ को प्रतिबिम्बित किया। मुक्तिबोध के शिरोहण का यह पचासवाँ वर्ष है। उनकी स्मृति में हम उनकी 'साहित्यिक की डायरी' से कुछ अंश उद्धृत कर उनके प्रति अपनी आस्था एवं विश्वास का प्रतिवेदन करते हैं।

"कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना, और एक ऐसी कैप्टेसी का रूप धारण कर लेना, यानी वह कैप्टेसी अपनी अँखियों के सामने ही खड़ी है। तीसरा और अंतिम क्षण है इस कैप्टेसी के सम्बन्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और प्रक्रिया की परिपूर्णता तक की गतिमानता। कैप्टेसी को सम्बन्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सूजन होता है- जिसके कारण कृति क्रमशः विवक्षित होती जाती है- वही कला का तीसरा और अंतिम क्षण है। ... जो कैप्टेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक् होकर अर्थात् उससे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं द्वारा वर्तमान और प्रक्षेपित होगी, वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ में नितांत निर्वैयक्तिक होगी। ... कैप्टेसी अनुभव की कथा है और उस कथा का अपना स्वतंत्र विकासप्रमाण व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रभुत है इसलिए वह उससे स्वतंत्र है।"

विचार, विश्लेषण, शोध एवं सृजन की

# अभिव्यंजना

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष-38 पुनर्प्रकाशन वर्ष- 1, अंक-4 अप्रैल-जून 2014

संपादक

डॉ. मीरा सिन्हा

सह संपादक

डॉ. अर्चना पाण्डेय

प्रकाशक

आनंद कुमार सिन्हा

आवरण सज्जा

शुभागता श्रीवास्तव

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन

सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल

संपर्क - 0332675 7195/1686 मोबाइल-098314 97320, 098308 39032

ई-मेल - sinhameera48@gmail.com, pandeyarchanaphd@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

आकल्पन

सोनू प्रजापति

व्यवस्थापन एवं वितरण

अभिलाषा तिवारी, सुनील कुमार साव, ज्ञानप्रकाश पाण्डेय, प्रतिमा सिंह,

जीवन सिंह, सुलेखा कुमारी और अम्बर चौधरी

मूल्य

एक अंक- 50/- रुपये

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- 200/- रुपये

आजीवन- 2000/- रुपये

अभिव्यंजना अप्रैल-जून 2014



## अवस्थिति

उस पार से-इस पार तक

5. संस्तुति

आलेख

7. सुधीर रंजन सिंह : कविता और मनोविमर्श

12. डॉ. राणा प्रताप : विचार और उत्तरआधुनिकता

16. डॉ. सेवाराम त्रिपाठी : कलाओं की दुनिया

20. डॉ. अनिल कुमार शुक्ल : आधुनिक भारत के  
अप्रतिम संस्कृति-पुरुष  
कवि रवि ठाकुर

23. डॉ. प्रभात कुमार मिश्र : प्राच्यवाद और हिन्दी  
नवजागरण

गवेषणा

30. प्रो. अवधेश नारायण मिश्र: उत्तर संस्कृति का

एवं राजीव रंजन प्रसाद : बाजारीकृत दृश्य-प्रपंच  
और भाषा संप्रेषण

कहानी

40. प्रो. विद्योत्तमा मिश्र : पुकारता आँचल

46. डॉ. मनोज मोक्षेन्द्र : अन्ना की रैली में...

52. प्रभाकर मिश्र : जमाना

अनुशीलन

55. डॉ. सुनीता साव : पिंजर: नारी-वेदना बनाम  
मुक्ति चेतना

60. डॉ. प्रिया राय : समय से मुठभेड़ करने वाले 'अदम'

64. डॉ. राजीव कुमार वर्मा: शर्म: एक सर्जनात्मक भाव

67. रविकांत : हिन्दी कहानी: पाठ और समीक्षा

कविता

69. ओम भारती : सच के लिए  
अच्छे रंग संकोच में रहे आये  
सीधी लकीरों में  
दरवाजा बंद

71. डॉ. आनंद बहादुर : रचना में मातम  
वह डूबा शहर तो पीछे छूट  
चुका है  
एक स्पष्ट स्थगन में  
स्वप्न में पागल होती नदी

73. डॉ. चेतना वर्मा : पीली साड़ी पहनकर  
माँ की उम्मीद  
माँ के मनोरथ  
चुटकी भर हँसी

75. जीवन सिंह : कविता लिखता चलता जोहता हूँ राह

76. लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता : ओ गंगा  
इस पृथ्वी पर जीने के लिए

78. विश्वासी एक्का : सपनों की भूल भुलैया  
कुछ कहना है तुमसे

नई पहल, नया कदम

79. अनिल कुमार गुप्ता: पहचान  
विमर्श

80. मार्तण्ड : रचना और आलोचना के प्रश्न  
जीवन के प्रश्न होंगे कि नहीं!

86. अमरकांत : हत्यारे

भाषान्तर

91. प्रतिभा राय : गोपनीय पत्र (ओड़िया कहानी)  
अनुवादक : पूर्णचन्द्र रथ

97. सुंदरम् : घन उठाओ (गुजराती कविता)  
अनुवादक : डॉ. नयना डेलीवाला

संचार

98. डॉ. रंजना अरगड़े : हिन्दी भाषा शिक्षण में बहु-  
माध्यमों का प्रयोग : स्वप्न  
और संकट

अन्तःपाठ

105. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु': 'बाँधो न नाव  
इस ठाँव बन्धु':  
वर्तमान में अतीत  
की घुसपैठ!

109. गतिविधियाँ

113. अभिमत

## संस्तुति

‘अभिव्यंजना के चौथे अंक के साथ मैं आभारी हूँ उन सभी सुधी जनों, मित्रों हितचिंतकों की जिन्होंने मेरे इस प्रयास की सराहना कर मेरे मनोबल को आसमान की ऊँचाई तक खींच दिया है। दुरुस्त करने के सफर में देर से ही सही चलना शुरू कर दिया है तो चलते रहना है, अकेले नहीं सबके साथ और दूर तक।

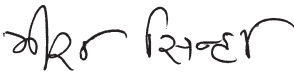
सम्प्रति, भारतीय लोक एक बड़े निर्णायक दौर से गुजरा है और देश एक नई तस्वीर से मुखातिब हो रहा है। सोलहवाँ आम चुनाव का कुछ अलग ही अंदाज रहा है— अच्छा या बुरा जैसा कुछ न होते हुए भी कुछ ऐसा जरूर था जिसे ‘भीषण’ कहा जा सकता है। हर तरफ ‘विकास’ और हर तरफ ‘तब्दीली’ के शोर से जनमानस एक तरह की उत्कंठा युक्त बेचैनी से भर उठा और संचार जगत ने उसे अच्छी हवा दी— नई सदी की नई पीढ़ी ने बड़े जोशो खरोश से एक ऐसी दिशा चुनी जिसमें बहुत कुछ पा लेने की उम्मीद जुड़ी है। यह सब कुछ एक दम अप्रत्यक्षित भी नहीं है क्योंकि बीसवीं सदी के अंतिम दशकों ने पूरी दुनियाँ में नये विमर्शों को जन्म दिया। उसी सदी के उत्तर औपनिवेशिक काल में हमने ‘वाम-वाम-वाम दिशा समय साम्यवादी’ की उद्घोषणा की थी लेकिन सदी के सांध्यकाल में दिशा बदली असंख्य टुकड़ों में बँटे मानव समाज ने ‘आइडेण्टिफाई’ होने की धुन में सारी हदें तोड़ दी। प्रतिक्रिया के रूप में वाम दक्षिणाभिमुख हो गया। यह एक तरह की ‘एण्टी थीसिस’ थी— ‘सिन्थेसिस’ की प्रक्रिया जारी है। केन्द्र का टूटना तमाम तरह के विमर्शों को जमीन देता है— वर्चस्व एवं निरंकुशता को हटाकर गैर बराबरी को तोड़कर एक नये लोक का निर्माण आज की आवाज है। नया विद्यार्थी, नया रचनाकार, नया विचारक—नया आदमी तलाश रहा है “एक ऐसा परिवेश जहाँ वह अपनी संपूर्णता एवं अपनी क्षमता के साथ अपना आयाम ढूँढ़ सके। स्थितियाँ जो तब्दीली का नाम लेकर उपस्थित हैं, उनमें सपने हैं— ढेर सारे सपने— पाश ने कहा है ‘खतरनाक होता है सपनों का मर जाना’ सपने तो हों परन्तु उनका रंग कैसा हो— वह किन विशेषणों का हकदार बने— क्या उनमें मानवीय संवेदना बुनी गई हो या महज अपने स्वार्थ का पिटारा भरा हुआ हो, यह सब तय करने के लिए फिर हम अपने संवेदनों में, अपनी भाषा में, अपने साहित्य में पनाह लेते हैं— जहाँ से ‘स्वान्तः सुखाय’ को ‘बहुजन हिताय’ की कोटि से जोड़ने का कार्य होता है। निरंतर आलोचना प्रत्यालोचना संवादों एवं विमर्शों के दौर से गुजरकर ही हम सही एवं पुख्ता जमीन तैयार कर सकते हैं जहाँ सपनों का आकाश मजबूती से टँगा हो।

हिन्दी भाषा और साहित्य का अकादमिक जगत आज कई तरह संकुलताओं एवं विसंगतियों से जूझ रहा है। जब रोजगार एवं तरक्की ही संस्थानों का मूल स्वर रह जाये तब यान्त्रिकता का बढ़ना स्वाभाविक है। संगोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं क्योंकि उनका आर्थिक पक्ष तय रहता है— लोग शामिल होते हैं क्योंकि वहाँ तरक्की के लिए सनद बँटता है— सारा आयोजन उत्सवधर्मी होता है, वक्ता ब्राण्डेड होते हैं जाने-माने और अच्छी कीमत लेने वाले, लम्बी पहुँच और क्षमता से लैस। प्रभु कीर्तन में भाग लेकर हम प्रसन्न मन से लौटते हैं जैसे ‘मनौती’ पूरी होने वाली हो। रपट संचारित की जाती है जिसमें भाग लेने वालों के नामों का ढेर तो होता है परन्तु मुद्दे गायब रहते हैं— विश्वविद्यालय के विभाग भाषा

और साहित्य पर कोई संवाद अथवा बहस कायम नहीं कर पाते। शोध का सम्बन्ध नौकरी एवं तरक्की से जुड़ गया है। अतः सार्थक शोध की दिशा लगभग बंद है। शोध कार्य शोध के अर्थ में न होकर डिग्री हासिल करने का उपक्रम मात्र है अतः गवेषणा एवं अनुसंधान का विस्तृत फलक उपेक्षित होता जा रहा है। क्षमता एवं योग्यता की परीक्षा (इलेजिबिलिटी टेस्ट) के लिए भी संस्थाओं में तैयारी करवाने का प्रावधान हो गया है। परिणामतः गहन अध्ययन एवं अध्यापन का सिलसिला समाप्त प्रायः है। धन लोलुपता इतनी बढ़ी है कि सर्जनात्मक साहित्य भी बाजार की तलाश में है। अंग्रेजी से आया हुआ 'बेस्ट सेलर' शब्द हिन्दी को धमकाने और धकियाने में लगा है। हमारा विस्तृत लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति लोकप्रियता (पापुलरटी) की आँधी में डगमग कदम रखने के लिये बाध्य हो रही है। लोक साहित्य का लोकप्रियकरण खतरनाक ढंग से हो रहा है। समझने की जरूरत है कि 'विकास' और 'बदलाव' है क्या— जिसमें सारे मूल्य गड़बड़ हो गये हैं। क्या बदलाव आदर्शों को ताक पर रख देने से ही आयेगा? क्या विकास की रफ्तार समस्त मानवीय संवेदना को चूस ले जायेगी? क्या उन सारे अन्तर्विरोधों को कुचल दिया जायेगा जहाँ से गैर बराबरी के खिलाफ सुगबुगाहट होती है? क्या वर्चस्व का बोलबाला ही लोक के तन्त्र को सही खुराक दे पायेगा?

बहरहाल, अकादमिक जगत में फैली यांत्रिकता और निठल्लेपन को चुनौती देना बहुत आवश्यक है। हमें अपने विचार एवं सर्जना को बहुमुखी बनाना होगा तथा मुक्त होना होगा उन कमजोरियों से जिसमें हम बाँटते हैं और बाँटने की प्रवृत्ति के शिकार होते हैं। साहित्य-संस्कृति एवं वैचारिक जगत में अलग-अलग खेमे, अलग-अलग गुट, अलग-अलग चिह्न के अलग-अलग परचम। समझ में नहीं आता इन सबके क्या मायने हो सकते हैं। प्रेमचंद ने कहा था— "लेखक स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है।" प्रेमचंद को उद्धृत करते हुए यही लगता है कि यथास्थिति पर हमेशा चोट करनी चाहिए तभी कुछ बेहतर हो सकता है, तभी प्रगति का पथ प्रशस्त हो सकता है।

'अभिव्यंजना' के संक्षिप्त कलेवर में हमारी कोशिश होगी कि विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी भाषा और साहित्य विभागों में चल रहे शोध कार्यों से सम्बद्ध शोध पत्रों का प्रकाशन किया जा सके। गवेषणामूलक शोध पत्रों को निदेशक आचार्य एवं शोधार्थी के परिचय सहित प्रकाशित किया जायेगा। साहित्य के विपुल भंडार से समीक्षकों द्वारा प्रस्तावित विमर्शों एवं अनुशीलनों के प्रकाशन को भी वरीयता दी जायेगी। सर्जनात्मक साहित्य को आज के विद्यार्थी समाज से जोड़ने की कोशिश की जायेगी, नये लोगों में सर्जन एवं समीक्षण की प्रवृत्ति को विकसित करने की चेष्टा 'अभिव्यंजना' का प्रमुख संकल्प है। विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं संस्थाओं से जुड़े नये-पुराने समीक्षक एवं सर्जक, अध्यापक एवं अध्येता, लेखक एवं पाठक सभी से 'अभिव्यंजना' साझेदारी की उम्मीद रखती है।

  
(संपादक)



## कविता और मनोविमर्श

सुधीर रंजन सिंह

हिन्दी की प्रारम्भिक आलोचना का आधुनिक मनोविज्ञान से परिचय कम रहा है, किन्तु उसमें यह समझ साफ रही है कि कविता, और बातों के अतिरिक्त, मनोजगत में निवास करने वाले सत्य के प्रकटन का एक तरीका है। रस-सिद्धान्त को यद्यपि भाव और मनोवेगों की व्याख्या की दृष्टि से बहुत समुन्नत नहीं माना जा सकता, लेकिन उसमें इस बात पर विचार के लिए सर्वाधिक अवकाश रहा है कि कविता में भाव अथवा अनुभूति की अभिव्यक्ति का पक्ष महत्वपूर्ण होता है। यह बुनियाद है जिस पर हिन्दी की प्रारम्भिक आलोचना खड़ी हुई। थोड़ा-बहुत आधुनिक मनोविज्ञान का ज्ञान भी इसमें शामिल रहा है।

रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि' के पहले खण्ड में दसवाँ निबन्ध है – जिसकी सर्वाधिक चर्चा की जाती है – 'कविता क्या है?' उससे ऊपर के नौ निबन्ध भाव और मनोविकारों से सम्बन्धित हैं। उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, और क्रोध सम्बन्धी विवेचन काव्य-सामग्री को ध्यान में रखकर हैं। काव्य-सामग्री प्रथमतः अनुभूति अथवा मनोजगत से सम्बन्धित होती है, यह बात 'कविता क्या है' के ऊपर के निबन्धों में झलकती है।

रामचन्द्र शुक्ल से पहले काव्य-विमर्श के इस मार्ग को थोड़ा-बहुत महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनाया था। भारत यायावर ने महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली के दूसरे खण्ड में 'विविध विषयों के साहित्यिक निबन्ध' के अन्तर्गत जिन निबन्धों को लिया है, उनमें शुरू के तीन निबन्ध प्रतिभा, क्रोध और लोभ पर हैं, जो 'सरस्वती' में क्रमशः 1902, 1905 और 1908 में प्रकाशित हुए थे। प्रतिभा के लिए उन्होंने कहा कि यह एक प्रकार का मनोविकार ही है।<sup>1</sup> यह बात लगभग उसी अर्थ में कही गई है जिस अर्थ में सिगमंड फ्रायड ने कवि और कलाकार को स्नायुरोग (न्यूरोटिसिज्म) और विक्षिप्तता (साइकोसिस) की विशेष श्रेणी में रखा है, जिसका सामान्य अभिप्राय है कि कवि और कलाकार चेतना की जिस अवस्था- उपबौद्धिक और अतिबौद्धिक- में रचना करते हैं उसमें पागलपन के लक्षण मौजूद होते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी किसी भी तरह 1902 में फ्रायड से परिचित नहीं रहे होंगे, लेकिन उनके इस कथन पर ज़रा नज़र डालें :

प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं; विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है अर्थात् साधारण लोगों की-सी नहीं होती; एक विलक्षण ही प्रकार की होती है; वैसे ही प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है; पुरानी लीक पीटना उनको अच्छा नहीं लगता।... विक्षिप्तों के समान प्रतिभावान ही आकाश-पाताल फाँदते फिरते हैं।<sup>2</sup>

प्रतिभावान विक्षिप्तों के समान आकाश-पाताल फाँदते रहते हैं। प्रबल मनोविकार के शिकार! और महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्द हैं, "मन की चंचलता के कारण इन विकारों का वर्णन जो मनुष्य के मुख से निकलता है, वही कविता है।"<sup>3</sup> द्विवेदी जी ने कविता की कोई ऐसी परिभाषा भी की होगी, इस पर आज शायद ही किसी का ध्यान जाता हो।

महावीरप्रसाद द्विवेदी को कविता में इतिवृत्तात्मकता (मैटर ऑफ़ फैक्ट) का प्रवक्ता माना जाता है। यह बात रही भी है उनके साथ। इसलिए स्वभावतः विक्षिप्तता के चिह्न से युक्त काव्य-रचना का उन्होंने बहुत दूर तक समर्थन नहीं किया; लेकिन यह बात भी नहीं कि उसकी विशेषता को नज़रअन्दाज़ किया हो। लिखा कि “इस प्रकार की रचना में अनुप्रास और यमक की अधिकता होती है, लालित्य भी खूब रहता है। कमी केवल अर्थ-गौरव की रहती है।”<sup>4</sup> अब बनी-बनाई रूपावली (पैराडाइम) का अतिक्रमण करती रचना में अर्थगौरव कैसे हो, और वह भी द्विवेदी जी की नैतिक सुरुचि की शर्त पर!

महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रतिभा-सम्बन्धी विवेचन आकस्मिक रूप से पश्चिमी मनोविज्ञान से जुड़ गया है। पाश्चात्य अध्ययनों का संकेत उसमें है, लेकिन उसका मनोविज्ञान नामक अनुशासन से सीधा सम्बन्ध नहीं है। ‘क्रोध’ और ‘लोभ’ सामान्य व्याख्या पर आधारित हैं। लगभग यही बात रामचन्द्र शुक्ल के साथ है। भाव और मनोविकारों से सम्बन्धित उनके निबन्ध मनोविमर्शी ज़रूर हैं, लेकिन वे मूलतः रस-सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। उनमें शुक्ल जी की आलोचनात्मक शक्ति ने भी रंग दिखाया है। बहरहाल, मुख्य बात यह है कि हिन्दी आलोचना में प्रारम्भ से मनोजगत को कविता के सन्दर्भ में सबसे ऊपर रखकर विचार की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, और यह आकस्मिक नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल ने रस-सिद्धान्त आधारित काव्यशास्त्र के विकास का प्रयास किया है। रस-सिद्धान्त में मनोवेगों का वर्गीकरण और उनकी जो व्याख्या की गई है उसे ही ध्यान में रखकर उन्होंने ‘कविता क्या है?’ के प्रथम प्रारूप में ‘मनोवेग’ पद के प्रयोग के साथ यह पाद-टिप्पणी आवश्यक समझा, “इन्हीं मनोवेगों का नाम अलंकारशास्त्र में रस रखा गया है।”<sup>5</sup>

यद्यपि रस-सिद्धान्त भाव और मनोवेगों की व्याख्या की दृष्टि से समुन्नत नहीं है— पी.व्ही. काणे ने जैसा स्पष्ट किया है कि “भरत और उनके अनुयायियों का उद्देश्य बहुत सीमित था और मनुष्य के बचपन और बाद के जीवन से सम्बद्ध किसी पूर्ण या व्यापक मनोवैज्ञानिक पद्धति से उनका सम्बन्ध नहीं था।”<sup>6</sup>—उसके आधार में कुछ तत्त्व अवश्य हैं जिनसे हम आधुनिक मनोविज्ञान की संगति बैठा

सकें। उनमें से दो बातें खास रूप से चिह्नित की जा सकती हैं — आनंद-तत्त्व और रसध्वनि। स्वयं रति आदि स्थायी भावों और विभाव-आदि की अनुभूति और कल्पना सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से जोड़कर व्याख्या सम्भव है। रामचन्द्र शुक्ल ने यह काम पूरी तरह नहीं किया; रति/शृंगार को, जिसे मनोविश्लेषण में सबसे ऊपर रखकर देखा गया है, अपने लेखन से लगभग बाहर रखा; प्रवृत्तिप्रधान बता कर या तो टाल दिया, या सामाजिक-नैतिक बुद्धिमूलक व्याख्या कर दी। रसध्वनि के स्थान पर जब कविता में वस्तुध्वनि की प्रधानता बढ़ी, उस युग में आलोचक का जोर इस बात पर कैसे बना रहता कि भरत से भी पहले शृंगार को मुख्य रस माना गया था, और वह अनुचित नहीं था। नैतिक और तर्कमूलक चिन्तन के दबाव में, यही कारण है, रामचन्द्र शुक्ल की कल्पना और बिम्ब सम्बन्धी व्याख्या भी उस काव्य-सत्य के उद्घाटन में बहुत सफल नहीं रही जिसका गहरा सम्बन्ध चेतना के विराट पटल से होता है। साहित्यिक आलोचना का दृढ़ आधार प्राप्त होने के बावजूद यह हुआ। सहजवृत्तिगत आवेगों को फ्रायड ने ‘कामवृत्ति’ (सेक्सुअल) के रूप में पेश करते हुए प्रतिपादित किया कि इन्होंने उच्च सांस्कृतिक, कलात्मक और सामाजिक सृजनाओं में गम्भीर योगदान दिया है।<sup>7</sup> आधुनिक मनोवैज्ञानिक विमर्शों में इस बात का विशेष महत्त्व है। भोजकृत ‘शृंगारप्रकाश’ पर जब हमारी नज़र जाती है तो आधुनिक मनोविज्ञान में हमें कुछ अनजाना नज़र नहीं आता। उच्च सांस्कृतिक, कलात्मक और सामाजिक सृजनाओं में शृंगार है— रति, मोक्षशृंगार, धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार, अनुराग, संभोग, और बहुत कुछ। मूल ‘शृंगारप्रकाश’ नहीं पढ़े होने के बावजूद पी.व्ही. काणे ने अनुचित अनुमान नहीं लगाया है कि पाठ के बाद ‘सबसे अधिक एकरस (शृंगार) के अद्वितीय सिद्धान्त का परिचय मिलेगा।’<sup>8</sup> स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों पर आधारित भाव को ‘शृंगारप्रकाश’ में जो व्यापक अर्थ प्रदान किया गया है, उसमें अद्वितीय सिद्धान्त है, इसकी एक झलक काणे ने दिखाई है :

...कविता रस के कारण सरस बनती है और इस एक रस को शृंगार कहा जा सकता है, जिसका रूप अभिमान तथा अहंकार—जैसा ही है। वह मनुष्य की आत्मा में व्याप्त रहता है क्योंकि आत्मा पर जन्म-जन्मान्तर से उसके संस्कार



पड़े रहते हैं और इसी एक कारण से आत्मा के अनेक गुणों की उत्पत्ति होती है। (रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते। योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।। विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु। आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते।।)<sup>9</sup>

अभिमान और अहंकार – आत्मा पर जन्म-जन्मान्तर से जिसके संस्कार पड़े रहते हैं। युग जिसे आद्यरूप या आद्यबिम्ब कहते हैं और कलात्मक सृजना का स्रोत जिस सामूहिक अवचेतन में देखते हैं, उसकी झलक यहाँ है। शृंगार का 'रूप अभिमान तथा अहंकार जैसा ही है'। इसमें 'आत्मरति' (नार्सिसिज्म) झलकता है। और यह भोज कह रहे हैं, हर्बर्ट मारक्युस नहीं। मारक्युस ने फ्रायड के सहारे मत विकसित करने का प्रयास किया कि 'आत्मरति' केवल यथार्थ से पलायन की मनोगत कार्यवाई नहीं है। उसमें बाह्य संसार से अहं के अविच्छेद्य सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के रूप में विश्व के अंगीकार की भावना होती है।<sup>10</sup>

यह स्वतंत्रता का एक चिन्तन है जिसके आधार में मनोविश्लेषण है। स्वतंत्रता का अर्थ अहं का विसर्जन नहीं है। स्वतंत्रता एक सामाजिक विचारधारा के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक ऊर्जा है जिसे अर्जित करने में मनुष्य की वैयक्तिकता भी भूमिका निभाती है। विश्व के अंगीकार की वैयक्तिक भावना के भीतर बाह्य संसार के सर्वोत्तम परिष्कार की कल्पना क्रियाशील रहती है। काव्यात्मक सृजना इस काम का सफल निर्वाह करती है। आधुनिकों की बात करें तो अंगरेजी के स्वच्छन्दतावाद, हिन्दी के छायावाद और दुनिया के अनेक दूसरे आन्दोलनों- भविष्यवाद, अवांगार्ड आदि से सम्बद्ध कवियों में वैयक्तिकता की मनोभूमि प्रबल दिखाई पड़ती है, लेकिन वे मानवमुक्ति के अग्रनायक के रूप में भी पहचाने जाते हैं।

जहाँ तक शृंगारिक अभिव्यक्तियों का सवाल है, बिना ज्यादा दाँव-पेंच के समझा जा सकता है, वे मानवीय आवेगों के अंश के रूप में अस्वतंत्रता का प्रतिवाद होती हैं। सामाजिक-राजनीतिक हलकों में जब व्यक्ति अहस्तक्षेप की दशा में दिखाई पड़ता है तो ये प्रतिवाद के कौशल के रूप में काम करने से नहीं चूकतीं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल से लेकर रामविलास शर्मा ने शृंगार के प्रति जो अनुदार रवैया अपनाया

है, वह औपनिवेशिक विचारधारा के असर के कारण है। विक्टोरियन नैतिकता का असर। खुद अंगरेज़, 'विक्टोरियन नैतिकता' पद से स्पष्ट है, इसके प्रभाव में 19वीं शताब्दी में आए थे। यूरोप के देशों पर भी उसका कुछ छाप पड़ा। वह अलग सन्दर्भ है जिस पर फूको की 'दी हिस्ट्री ऑफ़ सेक्सुअलिटी' के पहले खण्ड में "वी 'अदर विक्टोरियंस'" प्रसिद्ध लेख है।

20वीं शताब्दी में यूरोप में शास्त्रार्थ के दो सबसे बड़े घराने हुए – मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण। दोनों ही ज्ञानोदयी तंत्र और उसके मूल्यों के भीतर काम करते हुए उसके प्रति आलोचनात्मक रहे। दोनों एक और बात में समान हैं। एक ने 'अर्थ' (इकोनामी) के शासन से मुक्ति के लिए 'दूसरा प्रागैतिहासिक युग'<sup>11</sup> की कल्पना प्रस्तुत की। 'सुख सिद्धान्त' के दमनकर्ता 'यथार्थ सिद्धान्त' के शासन से मुक्ति के लिए दूसरा अवचेतन की खोज और उसके विश्लेषण के मार्ग पर चल पड़ा। यह भी विशुद्ध 'प्रकृति' की खोज का मामला था जिसका गहरा सम्बन्ध प्रागैतिहासिक युग से बनता है। बहरहाल, दोनों सांस्कृतिक कलात्मक सृजना के सन्दर्भ में विचारोत्तेजक साबित हुए। ये खुद कलात्मक सृजना के कम ऋणी नहीं रहे। चूँकि कलात्मक सृजनाओं में मुक्ति का स्वप्न होता है, इस दृष्टि से मार्क्सवादियों द्वारा उसे गम्भीरता से लिया जाना स्वाभाविक है। फ्रायड की बात करें तो जिस अवचेतन की खोज और व्याख्या के लिए उन्हें विशेष प्रसिद्धि मिली, खुद उन्हीं के शब्दों में, कवियों के लिए वह बहुत पहले से ज्ञात तथ्य रहा है।<sup>12</sup>

यह मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण की सिर्फ बात नहीं है। कलात्मक सृजना, विशेषकर कविता, सभी उच्च शास्त्रार्थों को मार्ग दिखाती रही है। इस पर हाइडेगर का ज़ोर रहा है। हमें ध्यान नहीं कि रमेशचन्द्र शाह को छोड़कर हिन्दी में इस बात का किसी ने उल्लेख किया हो।<sup>13</sup> हमारा ध्यान भी शाह साहब वाले निबन्ध पर बाद में गया। हमने उससे पहले जूलिया क्रिस्तिवा के यहाँ काव्य-भाषा के महत्त्व पर हाइडेगर के विचार को पढ़ा। उस लेख से मेरी आँख खुली। हमने उस लेख का लग-भिड़ कर अनुवाद भी किया।<sup>14</sup> हाइडेगर की बात को हम बाद में रखेंगे। उससे पहले हमें थोड़ी-सी बात मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण, और उसके बाद रसध्वनि के बारे में कहनी है।

सवाल यह है कि मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण को उस प्रागैतिहासिक काल में जाने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी, जो कवियों का भी प्रिय सैरगाह है? मैं यहाँ लुइस अल्थ्यूसर की 'सामाजिक समझौता' सम्बन्धी विवेचना का उल्लेख करना चाहूँगा। तीन निबन्धों की पुस्तक है—'मोंटेस्क्यू, रूसो, मार्क्स : पोलिटिक्स एंड हिस्ट्री'। अल्थ्यूसर ने कहा कि हॉब्स, स्पिनोजा आदि ने वास्तविक इतिहास भले नहीं प्रस्तुत किया, लेकिन उनके यहाँ समाज के सारतत्त्व का सिद्धान्त अवश्य है। उन्होंने न तो किसी विशेष समाज की व्याख्या की है और न ही किसी विशेष ऐतिहासिक काल को 'कंकरीट' किया है। उन्होंने केवल इतिहास के सारतत्त्व का विश्लेषण किया है, और उसे आदर्श अमूर्त मॉडल प्रदान करने की चेष्टा की है।<sup>15</sup> रूसो वाले अध्याय में उन्होंने कहा कि कौन लोग जनता अथवा नागरिक हैं : यह नियम एक समझौता है। इसके लिए वे प्राकृतिक विधान की ओर लौटते हैं, जिसने सामाजिक समझौता के लिए बाध्य किया। समझौता दो पाने वालों (रिसिपिडंट) के बीच हुआ— राजा और बाकी लोग; और इस बात पर आधारित कि 'दो और लो'। बाकी लोगों ने अपनी स्वतंत्रता दी, अपने प्राकृतिक अधिकार को प्रदान किया, बदले में राजा से थोड़ा-सी सुरक्षा प्राप्त की। कानून का राज चला, लेकिन प्राकृतिक अधिकार गायब। 'अ-लगाव' (एलियनेशन) इसी बात से पैदा हुई। कवि-कलाकार इस अ-लगाव से मुक्त होने के लिए पुनः प्रागैतिहासिक काल में प्रवेश करते हैं। यही काल मार्क्सवादी मानव-विमुक्ति का आदर्श बना; इसी में मनोविश्लेषण की अवचेतन-क्रीड़ाएँ धूम मचाती हैं। कितना मनोरम है यह काल – असभ्य जंगल युग! हिन्दी कविता का उदाहरण लें। निराला की जूही की कली है जो विजन प्रांत में भावमग्न है। प्रसाद को कहना पड़ रहा है – 'ले चल वहाँ भुलावा देकर/ मेरे नाविक! धीरे-धीरे।' 'कामायनी' में तो इसके लिए कैलाश तक की यात्रा है। रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जाएँगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।"<sup>16</sup> इसमें निहित है कि प्रागैतिहासिक प्रकृति-तत्त्व मानव चित्त का कभी साथ ही न छोड़ दे!

बहुत सी बातें हैं जिनके लिए बहुत अवकाश चाहिए। पीछे की दो बातें, जिनका सम्बन्ध काव्य-भाषा विचार से है, छूट रही हैं, जिनके बगैर बात कदाचित् पूरी नहीं होगी। आनंदवर्धन की रसध्वनि और हाइडेगर वाली बात। हाइडेगर का विचार दीगर बातों के अतिरिक्त भाषा-केन्द्रित है। उन्होंने काव्य-भाषा को अस्तित्व का स्फोट माना। एक ऐसा स्फोट जो पृथ्वी और संसार के आपसी संघर्ष के कारण घटता तो है, परन्तु नियंत्रण नहीं खोता। इस बात पर उनका ज़ोर है कि सभी कलात्मक सर्जनाएँ काव्यभाषा की ध्वनि में अंकुरित होती हैं, जहाँ अस्तित्वों की सत्ता सन्तुष्ट होती है, और परिणामतः 'इतिहास' फलीभूत होता है।<sup>17</sup> 'ध्वन्यालोक' के बारे में जो लोग जानते हैं, उन्हें यह बात ज़्यादा कठिनाई पैदा करने वाली न लगे। अस्तित्व का स्फोट (ध्वनि) जो नियंत्रण नहीं खोता, यह शक्ति काव्यभाषा को व्यंजनावृत्ति के द्वारा प्राप्त हुई है। आनंदवर्धन ने जिसे प्रतीयमान अर्थ कहा है।

सामान्यतः माना जाता है कि आम लोग भी लाक्षणिक और व्यंजक भाषा बोल सकते हैं, उनमें सोचने और कल्पना की शक्ति होती है, और काव्यमय भाषा का इस्तेमाल कर सकते हैं; इसके बावजूद काव्यभाषा आम प्रयोगों से ऊपर की चीज़ है। लेकिन आनंदवर्धन ने व्यंग्यार्थ का जो उदाहरण दिया है, वह आम भाषा में बात करने का उदाहरण है, और विलक्षण है :

मम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।  
गोलाणइकच्छकुङ्गवासिणा दरिअसीहेण।।

(ध्वन्यालोक, दीपशिखा टीका, पृ.-12)

नायिका अपने मिलनस्थल से एक धार्मिक पुरुष को रोज गुज़रते देखकर परेशान रहती है। एक दिन उसे रोककर कहती है, 'हे धार्मिक, निर्भय होकर इधर से आया-जाया करो। आज मेरे कुत्ते को (जो तुम्हें डराया करता था) यहीं आसपास बाघ ने मार डाला है। असली अर्थ है कि अब इधर से भूलकर भी आया-जाया मत करो। पहले कुत्ता ही था तुम्हें डराने के लिए। अब बाघ है, जो तुम्हें मार ही डालेगा।

बात में सिर्फ़ चमत्कार नहीं है; उसमें साइकोलॉजिकल कॉज है।

भाषा-क्रीड़ा विचित्र है, चित्त-क्रीड़ा विचित्र है। दोनों क्रीड़ाएँ अवचेतनात्मक हैं। भाषा और अवचेतन की

संरचना समान है, यह जैक लकां कहते हैं। इसे सिद्ध करने का उनके यहाँ पूरा उपक्रम है।

रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्बग्रहण को कविता में महत्त्वपूर्ण माना था। यह उनका चलाया बिम्बग्रहण उन्हीं की दृष्टि में अभिधार्थ है— बिम्बग्रहण अभिधा-शक्ति का ही कार्य है। अभिधार्थ के कवि कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते, लेकिन व्यंग्यार्थ का अवचेतन को व्यक्त करने की दृष्टि से खास महत्त्व है। रसध्वनि में यह समझ एक हद तक काम करती दिखाई पड़ती है।

वस्तुतः काव्यकथन के जितने उपकरण हैं, जिनका सामान्य जीवन में भी व्यवहार होता है – रूपक, विडम्बना आदि अलंकार रूप में, वे मनोवैज्ञानिक अभिप्रायों से अभिन्न हैं। भाषा-संकेत स्वप्न-संकेत में एक प्रकार का गठजोड़ है। कविता अगर स्वप्न-विधान है तो स्वप्न भी काव्य-विधान है। लकां ने फ्रायड के स्वप्न-विश्लेषण की खूबसूरती पर शक नहीं करते हुए भी उनकी बात को उलट दिया है। साहित्य अथवा भाषा के पक्ष से स्वप्न-विश्लेषण को देखना। उनके एक कथन को उद्धृत करते हुए मैं अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा :

स्वप्न-विश्लेषण से सम्बन्धित फ्रायड के कार्य देखें, ताकि आप पुनःस्मरण कर सकें कि स्वप्न की संरचना एक वाक्य अथवा यों कहें कि किसी चित्र-पहेली के वर्ण की तरह होती है। कहना चाहिए कि इसकी संरचना लेखन-रूप जैसी होती है।..... मूल बात पाठ-वस्तु के रूपान्तरण के साथ शुरू होती है, फ्रायड द्वारा कही गई महत्त्वपूर्ण बातें उनके स्वप्न विश्लेषण में आती हैं। पदलोप, पुनरुक्ति, जबरन और द्विअर्थी प्रयोग, पुनरावर्तन, दुहराव, समासोक्ति आदि स्वप्न-विश्लेषण के ही वाग्जाल हैं। ये सभी व्याकरणगत विस्थापन हैं। रूपक, विरेचन, आत्मकथन, अन्योक्ति, लाक्षणिक प्रयोग और उपलक्षक ये सभी संकेतपरक संघनीकरण हैं। इसके माध्यम से फ्रायड हमें स्वप्न के मूल अभिप्राय की शिक्षा देते हैं। यह इस रूप में कि स्वप्न आडम्बरपूर्ण है अथवा निदर्शनात्मक है, पाखण्डपूर्ण है अथवा चित्ताकर्षक है, प्रतीकात्मक है अथवा सम्मोहक है। कोई कर्ता स्वप्न के

इन्हीं रूपों अपने स्वप्न-संवाद में इच्छानुसार घटाता-बढ़ाता है।<sup>18</sup>

यह लकां द्वारा भाषा-संरचना के माध्यम से स्वप्न-संरचना को समझने का उपक्रम है। कविता भाषा है और स्वप्न है। अवचेतन को अभिव्यक्त करने का उसमें सबसे ज्यादा माहा है। वह कई बार बहुत ऊटपटांग होती है। अवचेतन स्वयं में जितना ऊटपटांग रोल प्ले करता है, उसकी भारी मात्रा में अभिव्यक्ति वाली कविता भी गड़बड़ी करती है। इस गड़बड़ के कारण कई अच्छे कवियों को कलापारखी आलोचक मान्यता नहीं देते, या कम मान्यता देते हैं। हमारी आलोचना को इसी बात से बचाना है।

#### सन्दर्भ

- (1) देखें, महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, खण्ड-2, पृ.-355.
- (2) वही, पृ.-355-56.
- (3) वही, पृ.-364.
- (4) वही.
- (5) रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि-3, पृ.-91.
- (6) पी.व्ही. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ.-442.
- (7) देखें, सिगमंड फ्रायड, इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोएनेलिसिस, पृ.-37.
- (8) पी.व्ही. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ.-325.
- (9) वही, पृ.-453.
- (10) देखें, हर्बर्ट मारक्युस, इरोस एंड सिविलाइजेशन, पृ.-28.
- (11) देखें, जार्ज लुकाच मार्क्सिज्म एंड ह्यूमन लिबरेशन, पृ.-6.
- (12) देखें, फ्रायड, कलेक्टेड पेपर्स-पृ.-8-9.
- (13) देखें, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, (सं) सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा, पृ.-17.
- (14) देखें, जूलिया क्रिस्तिवा, भाषाविज्ञान का नीतिशास्त्र, पहल-75.
- (15) देखें, लुइस अल्थ्यूसर, मॉटेसक्यू, रूसो, मार्क्स : पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ.-20.
- (16) रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि-1, पृ.-144.
- (17) देखें, पहल-75, पृ.-67.
- (18) जैक लकां, एकसिस : अ सलेक्सन.

( भारत भवन, भोपाल में पढ़ा गया आलेख )

संपर्क:

मो.नं. 9406542866

## विचार और उत्तर आधुनिकता

डॉ. राणा प्रताप

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

जे. एल. कॉलेज, हाजीपुर, वैशाली

दर्शनशास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म करने के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। इसके स्थान सबसे आगे हैं जहाँ से यह इस जगह के परिवर्तनों तथा आकस्मिक घटनाओं के अंदर से हमें उचित मार्ग का निर्देश करता है। यदि दर्शन पद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन में दूरी का अंतर नहीं रहता।

कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि वह नदी जो शताब्दियों तक पूरे वेग के साथ पूरी भरी हुई बहती रही है, अब एक बड़े अनुपयोगी तथा दूषित जल के रूप में परिणत हुआ चाहती है। इस पतनोन्मुख काल के दार्शनिक अथवा यों कहना चाहिए कि दार्शनिक विषयों के लेखक सत्य का उपासक होने का दावा करते हैं, यद्यपि इस दावे से अथवा किसी न किसी अति पवित्र हठधर्मी सम्प्रदाय के संबंध में बाल की खाल निकालने से होता है।

भारत के विचारक तर्क के प्रति श्रद्धा रखने की महान् परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। प्राचीन ऋषि लोग नकल करने की नहीं, वरन् नवीन रचना की इच्छा रखते थे वे सदा ही सत्य के लिए नये-नये क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने तथा जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए आतुर रहते थे, क्योंकि जीवन सदा परिवर्तनशील है और इसलिए नवीन रहता है। उत्तराधिकार की बहुमूल्यता ने कभी उनके मस्तिष्क को दास नहीं बनाया।

भगत सिंह ने 'ड्रीमलैंड' की भूमिका में स्पष्ट रूप से लिखा था- 'मैं अपने नौजवानों के लिए खासतौर पर इस पुस्तक की सिफारिश करता हूँ।' लेकिन एक चेतावनी के साथ। कृपया आँख मूंदकर इस पर अमल करने के लिए या इसमें जो कुछ लिखा है उसे वैसा ही मान लेने के लिए इसे न पढ़ें। इसे पढ़ें, इसकी आलोचना करें, इस पर सोचें और इसकी सहायता से स्वयं अपनी समझदारी बनाएं।'।

दर्शन हो, विचार हो अथवा कोई सिद्धांत हो या कोई पुस्तक ही क्यों न हो, समझदारी विकसित करने के लिए होती है यांत्रिकता अथवा कठमुल्लेपन को बढ़ावा देने के लिए नहीं। देश, काल, समाज और संस्कृति के साथ उसे मिलाकर देखना होता है कि कितना कुछ ग्राह्य है और कितना कुछ त्याज्य। अगर आप इस बात का ख्याल नहीं रखते तो आप बड़ी आसानी से पराये विचारों के मोहक जाल में जा फँसेंगे। इसलिए हमारे यहां तर्क-योजना और मीमांसा पर खास जोर दिया गया है।

नागार्जुन ने कहा है कि 'जिस व्यक्ति अथवा समाज की बुद्धि अन्य व्यक्ति या समाज पर निर्भर हो, समझना चाहिए कि उसकी मनोवृत्ति पंगु हो गयी है। प्राचीन धारणाएँ, बड़ी से बड़ी अनुभूतियाँ, वृद्ध से वृद्ध गुरुओं की आज्ञाएं पहले स्वतंत्र बुद्धि की कसौटी पर कसी जानी चाहिए। अमुक ने ऐसा कहा है, अमुक पुस्तक में ऐसा लिखा है, इसलिए ऐसा करना चाहिए, इसलिए मैं ऐसा करता हूँ, इसलिए आप भी ऐसा कीजिए - ऐसा वे लोग कहा करते हैं जिनका दिमाग गुलाम है और जिनकी मनोवृत्ति पंगु है।'।

स्वाधीन मनोवृत्ति आंतिकरक स्वस्थता का बड़ा लक्षण है। परम्परा का बोझ और धारणाओं का जाल हमें खुलकर समस्याओं का समाधान नहीं करने देता- यह बिल्कुल सत्य है। इस बात को जितना जल्दी हो अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि इसमें आपका भी और समाज का भी भला है।

एक बार ऐसे ही अस्तित्ववादी चिंतन ने हमारे यहां पंख पसारे थे। हमारे कुछेक साहित्यकारों ने उसके प्रति ललक भाव दिखलाये थे। लेकिन उसका हश्र क्या हुआ ? एक मोहक इंद्रजाल खड़ा करके वह स्वयं ही एक दिन इस धरती से अनुपस्थित हो गया। आज उसके नाम पर रोने-धोने वाला कोई भी नहीं है। ठीक इसी प्रकार आज उत्तर आधुनिकता को लेकर एक फैशन चल पड़ा है। हैरत तो तब होती है, जब घोषित रूप से मार्क्सवादी कहे जाने वाले लोग भी प्रच्छन्न रूप से कहते हैं- 'हाँ, मैं उत्तर आधुनिकता की दुकान चलाता हूँ।'।

मुक्त बाजार है, ग्लोबल स्थिति है। भला क्यों किसी को कोई दुकान चलाने से रोकेगा ? जब मंत्री से लेकर संतरी तक को विदेशी व्यापार कम्पनियों के एजेंट होने से कोई रोक नहीं पाता तो कला और साहित्य के क्षेत्र में जूठन परोसने से भला कोई क्यों रोक पायेगा ? एक बार एक साक्षात्कार में प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा ने कहा था कि स्वस्थ-वाद्-विवाद का कोई माहौल नहीं रह गया है। कोई अपने को कितना कठमुल्ला और नकलची साबित करता है, इसी की होड़ चल रही है।

जरा इस बात पर भी गौर कर लें कि उत्तर आधुनिकता है क्या ? पूँजीवाद का कोई नया तराना है अथवा सचमुच में कोई बौद्धिक विमर्श है। सच मानें तो यह कोई बौद्धिक विमर्श है ही नहीं। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जब इसके पैरोकार एक सिरे से इतिहास से लेकर कविता, कहानी, उपन्यास और विचार तक का अंत की घोषणा करने लगते हैं तो वे कहीं टिक ही नहीं पाते। धरती घूमती है, मगर मनुष्य के पांव तो धरती पर ही टिके होते हैं। वैसे भी मनुष्य है तो उसके पास मस्तिष्क भी है और मस्तिष्क है तो विचार भी है। इस विचार को आप चाहकर भी कैसे दफना सकते हैं ? मनोविज्ञान की बात मानें तो मस्तिष्क तो सुषुप्तावस्था में भी सक्रिय रहता है। यहां तक कि कई महान कविताएं इस सुषुप्ता अवस्था में ही प्रस्फुटित हुईं। इसे आप क्या कहेंगे ?

यह ठीक है कि तकनीक और संचार क्रांति ने मिलकर बहुत बड़ा करिश्मा कर दिखाया है। लेकिन इसका पाठ तैयार करने में जो हड़बड़ी दिखलाई गयी, उसी ने इसका भंडाफोड़ भी कर दिया कि कैसे उत्तर आधुनिकता 'सीजोफ्रेनिक पूँजीवाद' का ही वैचारिक प्रतिफलन है तो क्या रहस्य बच जाता है ? फिर भी उत्तर आधुनिकता के मुख्यतः तीन बिन्दुओं को थोड़ा समझने की कोशिश करें तो बात अपने आप स्पष्ट हो जायेगी।

**1. उत्तर आधुनिकतावाद :** यह सूक्ष्म पूँजीवाद के सांस्कृतिक पहलू से जुड़ा हुआ है। इसमें शरीर की प्रधानता, आनंदवाद, केन्द्रविहीन आर्थिक विश्व-व्यवस्था, देगली संस्कृति, इतिहास के प्रति विडम्बनापूर्ण और उपहासपूर्ण अहसास, स्वांग का युग, मनचाहे अर्थों का खुला खेल (जैसे प्रचार माध्यमों में होता है), हर चीज को भूमंडलीय तमाशा बनाने की कोशिश आदि। इसके प्रवर्तक सिद्धांतकारों में ब्रॉडिला, ल्योतार, डेविड हार्वे तथा लेखकों में अल्बर्टो इको आदि प्रमुख हैं।

**2. उत्तर संचरणावाद :** यह उत्तर आधुनिकतावाद का दार्शनिक पहलू है। इसमें संरचना का केन्द्र रहित होना संचरणा का बिना किसी नियम परिवर्तन, संरचना का निर्माण बहुदृष्टियों की शृंखला से, हर केन्द्र का ध्वस्त होना, अर्थ का अंतरों में

मौजूद होना आदि। संरचनावादी 'अर्थ' को द्वन्द्व के अंतराल में दृढ़ते हैं, जबकि उत्तर संरचनावादी बहुदृष्टियों के अंतर में। इसके प्रवर्तकों में मिशेल फूको, जीक लकान, जाँक देरिदा, रिचर्ड रॉयटी आदि प्रमुख हैं।

**3. विखंडनवाद :** यह पाठ में 'बहुअर्थ' एवं उन अर्थों की बराबरी, दर्शन का एक साहित्यिक लेखन मात्र होना, विचारों का एक उपमा मात्र होना, किसी भी उपस्थिति में अनुपस्थिति का उपस्थित होना। अतः सत्य जो स्व-उपस्थित है, के अंत की घोषणा। बोली को लेखन का रूप बताना, किसी केन्द्र का अपनी संरचना से बाहर होना, विश्व को एक पाठ में रूपांतरित करना, नियमों का अंत, मौखिकता का अंत, सत्य का एक मुहावरा मात्र होना, लेखक और आलोचक की बराबरी, आलोचना का लेखक के पाठ के अर्थ की शृंखला में भागीदार होना आदि। एक साथ इतनी सारी उट-पटांग अवधारणाएँ और वाद का विवादास्पद पिटारा। इसके प्रवर्तक हैं-जाँक देरिदा, पॉल द मान, क्रिस्टोफर बटलर, क्रिस्टोफर नॉरिस आदि।

यह सब हाशिए पर खड़े लोगों के लिए नहीं है, वरन 'सीजोफ्रेनिक पूँजीवाद' के विस्तार और मजबूती के लिए ही यह सब है। उनकी भागीदारी से संस्कृति का क्षेत्र पूँजीवाद के लिए विशेष रूप से खुलता है। सांस्कृतिक वस्तुओं को विश्व बाजार में बेचा जाता है। आज आप स्वयं खुली आँखों से देख रहे हैं कि सांस्कृतिक वस्तुएं ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक प्रतीक, मिथक, वाक्य, यहां तक कि आपके देवी-देवता तक बेचे जा रहे हैं। दूसरी ओर पूँजीवाद के मानवीय चेहरे को बरकरार रखने के लिए अमर्त्य सेन जैसे अर्थशास्त्री को नोबेल पुरस्कार से नवाजा जाता है।

स्पष्ट है ज्ञान और विज्ञान का सूडो हो जाना और उत्तर संरचनावादी हो जाना नव साम्राज्यवाद की आवश्यकता का मामला है। यह पौराणिक और धर्मीय विश्व बाजार के अकूत मुनाफे की गारंटी में सहायक है। पिछले दिनों 'अवतार' नाम से फिल्म आयी, वह क्या था ? धर्मीय आधार को कला का अभिप्राय बनाकर बेचा जाना इसी को तो कहते हैं।

आप बाजार के द्वारा मनुष्य के अवचेतन को उत्तेजित करते रहिये, अंधी आवश्यकता की पूर्ति का धंधा स्वतः चालू रहेगा। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आज यही तो कर रहा है।

अब, थोड़ा इस पर भी विचार कर लिया जाए कि यह विचारधारा किस कालखंड में और क्यों पनपी ?

द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले देकार्त ने 'चेतन कार्य' को चुनौती दी। हेडेगर ने दृष्टिवाद को अस्तित्ववाद से जोड़ने की



भी कोशिश की। यहीं पर हेडेगर ने 'मेटाफिजिक्स' के अंत की घोषणा की। हेडेगर ने 'काव्य और दर्शन' को जोड़ने की भी कोशिश की। दरअसल, यही विचार देरिदा के 'विखंडनवाद' की नींव है। हेडेगर ने फ्रांस के सार्त्र मार्ले एवं पॉन्टी पर काफी प्रभाव डाला। फ्रांस की दूसरे विश्वयुद्ध में शर्मनाक स्थिति और उसके बाद की अस्थिर सरकारें, न्युयेन ग्याप के नेतृत्व वाले वियतनामी सैनिकों से बाइन डाइन फू में पराजय, अल्जीरिया में गृहयुद्ध, अल्जीरिया में ही फ्रेंच सैनिकों द्वारा विद्रोह, यह सब ऐसा चक्र था कि फ्रांस को हर तरफ हार एवं निराशा से ही गुजरना पड़ा था। इस समय फ्रांस के वामपंथी बुद्धिजीवी सार्त्र एवं पॉन्टी के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो रहे थे। कामू एवं सार्त्र ने इस समय में अपने उपन्यासों एवं कहानियों में निराशा को प्रधानता देना शुरू किया। इस तरह फ्रांस के बुद्धिजीवियों के बीच हेडेगर के मेटाफिजिक्स का अंत, नीत्से के यूरोपियन एन्लाइटमेंट की आलोचना एवं निराशा की प्रधानता का समन्वय चल रहा था।

डि-गाल द्वारा 1959 में फ्रांस को नाटो कमांडो से अलग रखने का फैसला, फ्रांस और अमेरिका के स्वेज एवं वियतनाम जैसे मुद्दों पर विवाद में फ्रांस की अपनी अलग पहचान (पूर्व बनाम पश्चिम के शीतयुद्ध के मॉडल के बाहर) बनाने की कोशिश चल रही थी। फ्रांस के बुद्धिजीवियों ने पूर्व ब्लॉक में पलते हुए रूसी रूपवादी स्कूल एवं प्राग संरचनावादियों के सिद्धांतों पर काम करना शुरू किया। लेवी स्ट्रास, लुईस डूमा, रोलां बार्थ, मिशेल फूको आदि ने 'संरचनावाद' का एक नया संस्करण तैयार करके फ्रांस की एक अलग पहचान बनाई।

1960 का दशक विश्व पूंजीवाद का चरम बिन्दु था। 1967 को इस व्यवस्था के संकट बिन्दु का शुरुआत माना जा सकता है। इस समय अमरीका से उठी 'छात्र-शक्ति' की लहर ने फ्रांस में भी जगह बना ली। मई 1968 का विद्रोह फ्रेंच गॉर्चियों के लिए गौरवमय महीना था गॉर्चियों ने 'रूसी विप्लववाद और चीनी माओवाद' को मिलाकर एक गैर कम्युनिस्ट क्रांति लानी चाही। लेकिन तुरंत बाद हुए चुनाव में गॉलवादियों की जीत हुई। सवाल उठने लगा- 'क्या सत्ता के खिलाफ संघर्ष नहीं हो सकता?'

इस तरह फ्रांस लगातार 1939-40 से लेकर 1970 तक निराशा एवं हार के सदमें में डूबा रहा। डिगॉल की हत्या के बाद फिर से एक बार सुगबुगाहट हुई। अपने को फिर से खड़ा करने के लिए फ्रांस के बुद्धिजीवियों के पास बस एक ही रास्ता था। सत्ता की प्रतीक कानून की किताबें, कॉलेजों के रजिस्टर, याद करने वाली किताबें इनकी सत्ता को ही ढहा दिया जाए। वास्तविक संसार की जगह अंतर्पाठीय दुनिया में 'फ्री-प्ले' ढूंढ

जाए। यदि बुद्धि पर आधारित सत्य इनकी शक्ति का प्रतीक है तो बुद्धि की सत्ता को ही ढहा दिया जाए।

इस समय तक फूको का 'मेडनेस एण्ड सिविलाइजेशन' और देरिदा का 'ऑफ ग्रेमेटॉलॉजी' प्रचारित हो चुका था। डील्यूज एवं ग्वाहटी की 'एंटी-इण्डिपेंडेंस सीजोफ्रेनिया एण्ड कैथलज्म' फ्रांस के बुद्धिजीवियों को एक नई दिशा दी कि बुद्धि की सत्ता को नकारते हुए लेखन किया जा सकता है। नीत्से का जोर-शोर से प्रचार शुरू हुआ। देह की प्राथमिकता स्थापित की गयी। फूको इसी को आधार बनाकर 'जिनिलॉजिकल' इतिहास लेखन की शुरुआत करते हैं। देरिदा का विखंडनवाद थेल यूनिवर्सिटी पहुँचता है। फूको एडवर्ड सईंद के विवादास्पद प्राच्यवाद के प्रेरक बनते हैं। इस तरह फ्रांस का बुद्धिजीवी वर्ग संरचनावाद वाली पहचान छोड़कर डील्यूज-फूको देरिदा के त्रिकोण पर विश्व-बौद्धिक मंच पर पहचान बनाने में कामयाब होते हैं। यह त्रिकोण सत्ता के खिलाफ संघर्ष को पाठ-ज्ञान बुद्धि सत्य को सत्ता के खिलाफ मोड़ देता है। फ्रांस के गाँवियों ने नयी आशा ढूँढ ली- 'फ्रीडम नहीं, तो 'फ्री प्ले' ही सही सत्य हमारा नहीं तो फिर किसी का नहीं।

इसी समय डेनियल वेल की 'द कमिंग ऑफ पोस्ट इंडिस्ट्रियल सोसायटी' (1975) ने खासा प्रचार पाया। बुद्धिजीवियों को लगा कि फ्रांस से चली गयी बौद्धिक क्रांति, जो अपने स्वभाव में प्रति-बौद्धिक थी, इस 'पोस्ट इंडिस्ट्रियल सोसायटी' की अवधारणा से जुड़ी हुई है। तो क्या पश्चिम अब आधुनिक युग की औद्योगिकता से उत्तर औद्योगिकता के आर्थिक स्तर में प्रवेश कर चुका है और फूको-देरिदा-डिल्यूज इस नये आर्थिक स्तर की विचारधारा को प्रस्तुत कर रहे हैं? यहीं पर फ्रेडरिक जेमसन जैसे मार्क्सवादियों ने Postmodernism as cultural stage of the capitalism का नारा देना शुरू किया।

वैसे उत्तर आधुनिकता की चर्चा स्थापत्य एवं कला के क्षेत्र में पहले आई। वहाँ इसका मतलब Revival of historical awareness with sense of nostalgia से था। मगर पार्था-देरिदा फूको और लकॉन की चौकड़ी ने जब हर प्रस्तुति की पाठ को अंतरपाठीयता के रूप में देखना चाहा तो स्थापत्य एवं कला से उड़ा यह शब्द डेनियल वेल के उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा से मिलकर उत्तर आधुनिकता के रूप में सर्वव्याप्त हो गया।

ल्योतार के The post modern condition: a report on knowledge: (1979) के बाद तो इस पर इतना लिखा गया कि यह एक नया शास्त्र ही बन गया।

सत्ता का विरोध, रूसी विप्लव और माओवाद के साथ



बुद्धिजीवियों की बनाई खिचड़ी, दरअसल, बीरबल की खिचड़ी हो गई। इतने मंथन के बाद निकला 'डिस्कॉर्स' जिसे सत्ता पक्ष की शक्ति का स्रोत मानते हैं। कोई भी अनुशासन शरीर को अनुशासित करने के लिए होता है तो क्या उत्तर आधुनिकता भी भू-मंडलीकृत अभिजात वर्ग के हाथ में 'डिसिप्लीनिंग डिस्टिलीन' बन चुका है? क्या इसका उपयोग हमारी सोच को अनुशासित करने के लिए नहीं किया जा रहा है ताकि सामाजिक आन्दोलन के स्वर धीमे होने पर नयी रणनीति पर ध्यान न दे सके?

विचार स्तर पर फ्रांस में उभरे बौद्धिक सत्ता के खिलाफ संघर्ष और अमरीका में उभरे आचरण सत्ता के खिलाफ संघर्ष (फ्री सेक्स, ड्रग्स एवं बीट संस्कृति) दोनों को पूंजीवाद ने अपने अंदर समाहित-प्रतिष्ठित कर लिया है। सेक्स की आजादी की आवाज में यदि पितृसत्तात्मक सत्ता के खिलाफ आन्दोलन था तो यह आजादी आज के 'वस्तुओं का सेक्सुअलाइजेशन' का मूल बनकर प्रचार उद्योग को फैला रही है। 'साइकोएनालिसिस' को नशे की संस्कृति ने पुनः बचने का जोश दिया और मनोवैज्ञानिक क्लिनिकें बढ़ती गयीं जिससे हमारे मस्तिष्क के अंदर के 'स्पेस' पर निगरानी और भी मजबूत हुई। क्या इसी तरह देरिदा-फूको-डिल्यूज के प्रतिस्तात्मक विचारों को सत्तापक्ष स्वयं को मजबूत करने में इस्तेमाल नहीं कर रहा है? सत्तापक्ष क्यों नये 'डिस्कॉर्स' को सर्वव्यापी बनाने पर तुला हुआ है कि 'सत्य नहीं जाना जा सकता, कोशिश न करो, किसी व्याख्या का विशेषाधिकार नहीं हो सकता है। अतः कोई विचारधारा न बनाओ। राजनीति दर्शन और उसके क्रियान्वयन के बीच के जबर्दस्त अंतराल को भरने में भीषण अनुभव होंगे। इनके आतंक से डरो...आदि।'

इसी धारणा के तहत 'आजकल हमारे यहां भी जोर-शोर से प्रचारित किया जा रहा है कि हमारी दुनिया विचारविहीन है। क्या सचमुच ऐसा है? या इसके पीछे कोई सुनियोजित षड्यंत्र काम कर रहा है।'

विचार बहुत खतरनाक होता है। खासकर ऐसा विचार जो सत्ता को चुनौती देता है। ऐसा विचार जो कुछ खास लोगों के आधिपत्य और वर्चस्व को चुनौती देता है। ऐसे विचार को दबाने या कुचलने का सिलसिला सदियों से चला आ रहा है।

बुद्धिजीवियों की दुनिया में यह मान लिया गया है कि

संसार की तमाम विचारधाराएँ पराजित हो गयी हैं। अब विचार करने की जरूरत नहीं रही। बस, 'खाओ-पिओ और मौज करो' जिनके पास खाने को नहीं है, उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ दो।

इतिहास की सीख यही है कि सत्ता को चुनौती देने वाले विचार को आप मार नहीं सकते। बंदूक के जोर से भी नहीं। जो विचार जुल्म के खिलाफ आवाज उठाता है, वह जंगल की आग की तरह फैलता है। ऊपर-ऊपर से देखने पर यही लगता है कि सब कुछ ठीक-ठाक है, कहीं कोई हलचल नहीं है लेकिन लावा तो हमेशा अचानक ही फूटता है।

मैं अक्सर सोचता हूँ कि कुछ लोग अपने विचारों के लिए जान की बाजी लगा देते हैं। क्यों? मंगल पांडे और भगत सिंह जैसे लोगों के मन में ऐसा विचार कैसे उपजा कि गुलामी में जीने से बेहतर है मर जाना।

दुनिया की बड़ी से बड़ी ताकतें इसी बात को लेकर परेशान हैं। उनके पास एटम-बम है, मिसाइलें हैं, लेकिन वे उस आदमी के विचार को खत्म नहीं कर सकतीं, जिसे अपनी जान की परवाह नहीं है।

विचार की काट विचार ही हो सकता है। जो लोग दुनिया को मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप से गुलाम बनाये रखना चाहते हैं, उन्हें यह बताना जरूरी है कि इस नश्वर संसार में न विचार बचा है और न ही विचार की कोई जरूरत है। इन्फार्मेशन टेक्नॉलॉजी का इस्तेमाल इसी उद्देश्य के लिए हो रहा है कि दुनिया सिमटकर एक ग्लोबल विलेज में तब्दील हो गयी है। सभी के लिए समान अवसर है और इस दुनिया के उपभोग की सभी को छूट है।

अगर ऐसा होता तो लोग भूखमरी से नहीं मरते; बेरोजगारों की फौज नहीं खड़ी होती। निर्दोष लोगों को युद्ध में जाने नहीं देनी पड़ती।

विचार की जननी भूख है। अभाव है, गैर-बराबरी है। आदमी गुलामी में नहीं जीना चाहता। एअरकंडीशंड शॉपिंग सेंटर्स में लोगों को खरीदते हुए देखने वाला फुटपाथ पर खड़ा आदमी कब तक विचारहीन रह सकता है। दुनिया को विचारहीन वे लोग बता रहे हैं, जो आने वाले तूफान से भयभीत हैं।

संपर्क: 09234763168

## कलाओं की दुनिया

डॉ. सेवाराम त्रिपाठी

कला का सम्बन्ध हमारे जीवनारुगाओं से और चिंतनशील मन-मस्तिष्क से होता है। इन जीवन अनुरागों से हमारी सौन्दर्य दृष्टि, सौन्दर्य चेतना, सोच प्रणाली और जीवन से हमारी सम्बद्धता का भी पता चलता है। कला जीवन से उपजती है इसीलिए उसका अनिवार्य नाता जीवन और जगत् से है। कला के माध्यम से ही जीवन सौन्दर्य और रस की हमें सहज अनुभूति होती है तथा जीवन में कला को बरत कर ही हम सब जीवन में मनुष्यत्व को धारण करते हैं। मनुष्य का वास्तविक पहचान ही उसके सांस्कृतिक बोध और कलात्मक बोध से जुड़ी होने पर होती है। हर मनुष्य और मानव समाज का अपना व्यक्तिगत तथा सामाजिक कलात्मक अनुभव और सौन्दर्यबोध होता है, इसीलिए कलात्मक सत्ताएँ हमारे आत्मबोध एवं सामाजिक बोध को विकसित करती हैं। हमारी चेतना एवं सामाजिक चेतना को जागृत करती हैं। यहीं से जीवन में हम अच्छा पाने, अच्छा देखने और अच्छा दिखने की कोशिश करते हैं। सम्भवतः इसीलिए कलाएँ हमारी मानसिक, वैचारिक, सांस्कृतिक और सामाजिक ऊर्जा का समुच्चय मानी जाती हैं। कलाओं ने हमारी हँसी-खुशी और दुःख में हमारी रुचियों के विभिन्न क्षेत्रों में भी हमें जीवन से बहुत गहरे तक जोड़े रखा है। यह जुड़ाव अटूट है।

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय का मानना है कि- “यह सही है कि कला का भी विकास हुआ है, जैसे सभ्यता और संस्कृति का, जैसे स्वयं मानव का, पर लगता है कि कला सभ्यता और संस्कृति से भी पुरातन शुद्ध मानवीय पिण्ड की मेधा से सम्बद्ध रही है और जैसे ही मानव में वाक् अथवा आकलन की दिशा में क्षमता आई है वैसे ही उसकी आर्द्रधारा सोते की भाँति सहस्रों और सहस्रशः फूट पड़ी है। तब उसने सभ्यता की किरणों की अपेक्षा नहीं की है और यही कारण है कि सभ्यता के उदय के सुदूर पूर्व ही मानव कोरने, गढ़ने, खंचने, सिरजने लगा था। इस स्थिति का रहस्य सांगोपांग आदि मानव के रूपायित प्रयत्नों में खुल पड़ा है। मानवीय प्रतिभा के पूर्वतम-प्राचीनतम सर्जनों से प्रकट है कि आदिम आरंभ से ही मानव म्रष्टा की प्रक्रिया से आविष्ट है कि उसकी चेतना कला के अभिनव आख्यान आलेख्य और रूप रचने को आतुर है।” [ भारतीय कला का इतिहास (आमुख)] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कला की सृजन प्रक्रिया की हमारे जीवन में विराट भूमिका है। कलाओं के विकास की इस कहानी को विस्तार से समझने की जरूरत है।

जीवन की तरह ही कला के विभिन्न रूप और आयाम हैं। साहित्य, संगीत, रंगमंच, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला के अतिरिक्त भी कलाओं के विविध रूप हैं। पाक-कला, केश सज्जा की कला भी इस दुनिया में शामिल हैं। कलाओं के द्वारा मानव जीवन की विविधता के दर्शन होते हैं इसीलिए जीवन की बहुस्तरीयता की तरह ही, कलाएँ भी विविध रंगों, रूपों में खिलती हैं। उन्हें एकपक्षीय रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। उनके अनेक रूप और रूपाकार हैं। कलाओं का आपस में अन्तरावलम्बन भी होता है। कलाओं के माध्यम से हम अपने दुःख को निवृत्त करने की कोशिश करते हैं। कलाओं के द्वारा

जीवन में जीवन्तता और उत्सव का भाव आता है। कला के द्वारा जीवन खिलता है और घोर निराशा के क्षणों में भी कलाएँ, सृजनात्मक चिन्ताएँ ही अपने बोध और भाव से अपने संवेदन से मनुष्य को जोड़कर संबल और शक्ति प्रदान करती हैं, इन्हीं के द्वारा हम अपनी ऊब और उदासी को जीतने की कोशिश करते हैं। जैसे- संगीत कला, गायन और वादन रूप में। रोगों से निवृत्ति के लिये भी इसका व्यवहार होता है। हर आदमी कला का पारखी नहीं हो सकता। कुछ लोग बहुत चलताऊ ढंग से चीजों को देखते और समझते हैं। उनका नजरिया उपयोगितावादी होता है। उपयोगिता की इस घेरेबंदी ने हमें कभी-कभी जीवन से बाहर धकेल दिया है। अतः जीवन में जाने के लिये पुनः अपने भीतर रंग भरने के लिये हमें कला के सरोवर में उतरने की कला आनी चाहिए। तभी जीवन जगत सुन्दर लगता है। कलाएँ नित्य हमारे जीवन को खिलाती हैं।

हम जीवन, जगत् और कला को एक साथ देखते हैं। कला जीवन से उपजती है। प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक मुक्तिबोध ने कला की रचना-प्रक्रिया में तीन क्षणों की चर्चा की है- 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक फ्रैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फ्रैण्टेसी अपनी आँखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फ्रैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है।... फ्रैण्टेसी को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है- जिसके कारण कृति क्रमशः विकसित होती जाती है- वही कला का तीसरा और अंतिम क्षण होता है।' (एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 15) स्पष्ट है कि कला के पहले क्षण में जीवन-जगत् का प्रत्यक्षीकरण सीधे तौर पर कला-प्रक्रिया को रूपायित करने के लिए जोरदार धक्का देता है। कलाकार के मानस में उसकी जीवन-चर्या में जीवन के प्रति जितना राग होगा, जीवन में जितनी उसकी आवाजाही होगी, उसका अनुभव उतना ही सम्पन्न

और प्रभावशाली होगा। कहना न होगा कि जीवन-जगत् में धँसे बगैर कला रूपायित नहीं होती।

कला और सौन्दर्य के अलग-अलग रूप और अन्दाज होते हैं। सबके देखने और अनुभव का नजरिया होता है। कला के स्वरूप पर समय-समय पर विचार किया जाता रहा है। कहा जाता है कि सौंदर्यानुभूति वह दशा है जब अन्तःवृत्ति का वस्तु के गुण के साथ स्वतः तादात्म्य भाव स्थापित हो जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल मानते हैं कि- "हमारी अंतःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष के ज्ञान या जिनकी भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह हमारे लिए सुंदर कही जाएगी।" सौंदर्य कहाँ होता है? यह एक गूढ़ प्रश्न है। कला की सौंदर्य चेतना व्यापक भी होती है और संश्लिष्ट भी। एक अच्छी कला हमारी चेतना के अनेक स्वरों को कई तरह से झंकृत करने में समर्थ है। निर्मला पुतुल की एक कविता का उदाहरण देखें- आदिवासी लड़कियों के बारे में 'वे जब हँसती हैं फेनिल दूध-सी/ निश्छल हँसी तब झर-झरा कर झरते हैं/ पहाड़ की कोख में मीठे पानी के सोते/ जूड़े में खोंसकर हरी-पीली पत्तियाँ/ जब नाचती हैं कतारबद्ध/ मांदल की थाप पर/ आ जाता है तब असमय बसंत।' यह अनुभूति एक नई दुनिया का द्वार हमारे सामने खोलती है। इस सौन्दर्य को समझने के लिये उस जीवन रंग में उतरना भी होगा, यहाँ एक साथ रंग, गंध, स्पर्श, ध्वनि, संकेत और शब्द की विराट लीला का अनुभव कर जीवन का जीवन्त अनुभव किया जा सकता है। माना जाता है कि कला निर्मिति की तीन स्थितियाँ होती हैं। बोध या सौन्दर्यानुभूति की अवस्था, कलाकार की रचनात्मकता प्रतिभा का उद्रेक और कला का नव रूप विधान। ये सभी निर्मितियाँ ऐसी हैं कि इनके द्वारा कला उत्तरोत्तर उदात्त होती जाती है। जिसे तुलसी ने कहा- 'सुंदरता कहँ सुंदर करई/छविगृह दीपसिखा जनु बरई।'

यह कला सौंदर्य को देखने का अपना अंदाज है। सौंदर्य के पारखी विरले ही होते हैं। 'एस्थेटिक सेंस' अर्थात् सौंदर्यबोध हमारे अनुभव की विराटता का सूचक है। कला को हम तभी समझ पाते हैं, जब कला के भीतर

जाने की हमारी शक्ति होती है। डूबकर ही कला और जीवन को समझा जा सकता है। इसी भूमि पर कला हमें मुक्त भी करती है। बिहारी ने कहा है—

‘तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।

अनबूड़े बूड़े तिरे जे डूबे सब अंग॥’

जो बौरा है वह डूबने से बचता है, उसे कला का मोती नहीं मिलता, उसको सुख और सौंदर्य और आनंद भी नहीं मिलता। कबीर ने सच ही लिखा—

‘जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ,

हौं बौरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ॥’

किनारे बैठने से कलाओं की दुनियाँ में प्रवेश संभव नहीं है। कला का जीवन से, जीवन के अनेक आयामों से अटूट रिश्ता होता है। कला और मनुष्य का रिश्ता अविभाज्य, अटूट और अनवरत है। कला मनुष्य में समाई हुई है। वह आत्मचैतन्य एवं आत्म गौरव के भाव भी जगाती है। कला की उत्पत्ति में सौंदर्य की मूलभूत प्रेरणा काम करती है। कला की चेतना ही मानव की मूलभूत सौन्दर्यात्मक चेतना है। इसी वास्तविकता पर कला की व्यक्तिगत सत्ता और सार्थकता भी है। कला की सत्ता, सामाजिक सत्ता और सार्थकता के रूप में भी निर्मित होती है। जब कला और एक तरह से रस का आस्वाद सामाजिक एक साथ हमारी दुनिया में करते हैं और औरों की दुनिया में प्रवेश कर सौंदर्य की सामाजिकता की दुनिया को निर्मित करते हैं। कला के प्रति लगाव मूलतः व्यक्ति के सामाजिक लगाव का निदर्शन है। कला हमें दुःख, क्षोभ और श्रम से परिहार करने का रास्ता भी बताती है। कहा जाता है कि कलाएँ अनेक हैं परन्तु कला का ध्येय सर्वत्र एक ही है सौंदर्य का अनुसंधान और उसका उत्तरोत्तर विकास और हमारे जीवन में श्रम करते हुए भी शान्ति का अनुभव। यही जीवन की सार्थक परिणति है।

कला और सौंदर्य का अटूट रिश्ता है। सौंदर्य के बारे में समूची दुनिया में विचार विनिमय होता रहा है। सौंदर्य प्रतीति का रिश्ता रचना से और रचना प्रक्रिया से होता है। उससे अलग होकर सौंदर्य का अनुभव नहीं किया जा सकता। मुक्तिबोध के शब्दों में —“असलियत यह है कि सौंदर्य तब उत्पन्न होता है जब सृजनशील कल्पना के

सहारे संवेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाए। कलाकार का वास्तविक अनुभव और अनुभव की संवेदनाओं द्वारा प्रेरित फ्रैण्टेसी इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है। वह रोल, वह भूमिका एक सृजनशील भूमिका है। वही कल्पना उसे वास्तविक अनुभव की व्यक्तिबद्ध पीड़ाओं से हटाकर, पैठ अब और गहरी-गहरी हो रही है।’ (मुक्तिबोध निबन्धों की दुनिया, पृ. 71)

सौंदर्य कोई हवा हवाई चीज नहीं है। वह पारलौकिक चीज भी नहीं है। उसकी सत्ता हमारे जीवन में निरन्तर होती है। हमारे अनुभव संसार में होती है। हमारे सामाजिक सांस्कृतिक विकास में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। रामविलास शर्मा का मानना है कि, “सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है मानव जीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है। उसकी सत्ता मनुष्य के भाव जगत और उसके विचारों में भी है। कला के माध्यम के अनुरूप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है।... सौंदर्यबोध एक संश्लिष्ट इकाई है। सौंदर्य प्रकृति में है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है, इसीलिए न तो समाज निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है, न समाज निरपेक्ष सौंदर्यानुभूति की सम्भावना होती है।’

एक लम्बा दौर ऐसा भी रहा जब कहा जाता रहा कि ‘कला कला के लिये है’ लेकिन यह कला की सच्चाई का सच नहीं हो सकता है। माओ-त्से-तुंग ने लिखा है “आज की दुनिया में समूची संस्कृति और समस्त कला साहित्य निश्चित वर्गों के ही होते हैं। उन्हें निश्चित राजनीतिक कार्य दिशाओं के अनुरूप ढाला जाता है। वास्तव में ‘कला, कला के लिये’ के सिद्धांत को मानने वाली कला, वर्गों से परे रहने वाली कला तथा राजनीति के समान्तर रहने अथवा उससे स्वतंत्र रहने वाली कला नाम की कोई चीज नहीं होती।” कलाएँ हमेशा जीवन के लिए होती हैं। वे जीवन की निरंतरता से लगातार सम्बद्ध होती हैं। वे हमारे जीवन संघर्षों की साक्ष्य भी होती हैं। वे जीवन संघर्षों से हमें मुक्त भी करती हैं। वे हमें आह्लादित भी करती हैं लेकिन वे मात्र कला के लिए नहीं होती। कलाएँ जीवन के

प्रति अनुराग पैदा करती हैं। वे हमें पलायन करना नहीं सिखातीं। उनमें जीवन रस की परिपूर्णता के लिये बहुत स्थान है। वे हमें शक्तिशाली और कद्दावर भी बनाती हैं।

यदि कला की दुनिया की बात की जाये तो पाब्लो पिकासो, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नंदलाल बोस, यामिनी राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, राजा रवि वर्मा, अमृता शेरगिल, मक़बूल फ़िदा हुसैन, भाऊ समर्थ, अकबर पदमसी, सतीश गुजराल, सैयद हैदर रजा जैसे कलाकार हमारे जेहन में आते हैं, जिन्होंने कला को जीवन से, जीवनानुभवों से हमारे रागों और विरागों से जोड़ा है। 'ताजमहल' की कला तथा खजुराहों की कला को देखकर कौन ऐसा है जो दाँतों तले उँगली न दबा लेता हो। खजुराहों की कारीगरी में पत्थर बोलते हैं और ऐसा लगता है कि ये जीवन का गहरा संदेश दे रहे हैं। कोणार्क के मंदिर को देखकर लगता है कि कला का खजाना यहीं है।

साहित्य और संगीत ने जीवन के रस के मर्म को समझने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। कोई कला जब जीवन में गहरे डूबकर निकलती है अथवा श्रम के पसीने में नहाकर बाहर आती है तो उसका आकर्षण और उसका सौन्दर्य एक नया शास्त्र रचता है। भीमसेन जोशी और कुमार गन्धर्व का गायन पत्थरों में जान डाल देता है। संगीत की दुनिया में ऐसे-ऐसे राग हैं जिनको छेड़ने से बादल भी घिर आते हैं। मेघ मल्हार, बादल राग इसके उदाहरण हैं। कहा जाता है कि मरने वाले लोग भी थोड़ी देर ठहर जाते हैं। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ, पंडित रविशंकर, अकबर अली खाँ, उस्ताद बिस्मिल्ला खान, कुमार गन्धर्व, अल्लारक्खा खाँ और ऐसे न जाने कितने कलाकारों ने कला के बहुत ऊँचे मानदण्ड स्थापित किए हैं।

एक जमाने की अनपढ़ तीजन बाई अपनी पंडवानी में जब एक तारा लेकर उसके तारों को छेड़ती है और हुंकारती है तो समूचे महाभारत की कथा जीवंत और मूर्त होने लगती है। कवि भगवत रावत की तीजन बाई पर लिखी गई कविता की ये पंक्तियाँ ध्यान से पढ़ें- 'हाथ में एक तारा लेकर गाते हुये/जब काल को आवाज लगाती है तीजन बाई/तो आकाश में देवता/हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं/बड़े-बड़े योद्धाओं को अपनी धुन पर नचाती है/चार कदम चलकर पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा आती है/और फिर अपनी टेक पर पूरी मण्डली के साथ छत्तीसगढ़ भूमि पर वापस लौट आती है तीजन बाई।'

न जाने कितने चित्र हैं। शब्द हैं, ध्वनियाँ हैं और भंगिमाएँ हैं जिन्हें कलाकारों ने रचा है और उनका वह रचा हुआ जनता के दिलो-दिमाग में उनके भाव संसार में दर्ज है और मूर्त है। कलाएँ देश, काल, जाति, धर्म और भाषाओं की सभी दीवारों आसानी से तोड़ देती हैं।

कला जनता की थाती है। आज हमारे पास कला की अमूल्य निधियाँ भी हैं, जिनका संरक्षण और संवर्द्धन करने की जरूरत है। कला ने हमें जीना सिखाया, कला ने हमारे गाढ़े वक्त में, हमारी मुश्किलों में हमें हौसला दिया है। हमें जीने के लिए प्रेरित किया है। जब तक मनुष्य है तब तक कलाओं का आदर सम्मान होगा। क्योंकि वे हमसे बेहद जुड़ी हुई हैं। हम हैं तो कलाएँ हैं और उनके विकास में हमारे वर्तमान और भविष्य का आश्वासन है। मनुष्य चला जाता है लेकिन कलाएँ किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती हैं। कलाओं ने हमें जीवन के प्रति उदात्त बनाया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मनुष्य का कला से निरन्तर रिश्ता है। यह ऐसा रिश्ता है जो कभी समाप्त नहीं होगा।

**संपर्क :** 6, रजनीगंधा, शिल्पी उपवन,  
श्रीयुत नगर, रीवा (म.प्र.)- 486002  
**मो. 9425185272**

## आधुनिक भारत के अप्रतिम संस्कृति-पुरुष कवि रवि ठाकुर

डॉ. अनिल कुमार शुक्ल

उमेश चंद्र कॉलेज, कोलकाता

रवीन्द्रनाथ ने भारतवर्ष की गरिमा का उद्घोष करते हुए उसे 'महामानव समुद्र' कहा है। आधुनिक युग की दो विरल विभूतियों—कविवर रवीन्द्रनाथ और महात्मा गाँधी को इस महामानव समुद्र की अमूल्य निधि कहना समीचीन लगता है। उनके समन्वित उद्योग ने देश में नवजागरण की सुलगती हुई आग को प्रदीप्त किया। आत्म-स्वातंत्र्य और विश्व-बन्धुत्व के सुषुप्त भावों को जगाया। उनकी उत्कट साधना से मानवता का वह उन्मुक्त स्वरूप उजागर हुआ जिसमें मन के सारे क्षुद्र भाव तिरोहित हो जाते हैं। अपराजेय विश्वास की भावना का अभ्युदय हुआ और मानवता की विजय-यात्रा का पथ प्रशस्त होने लगा। मानवता की सेवा के अटल ध्येय में एकात्म गाँधी और रवीन्द्र ने अपनी नैसर्गिक प्रकृति के अनुरूप राजनीति और साहित्य के सर्वथा पृथक् कर्मक्षेत्रों का वरण किया। नवजागरण की अवधारणा और उसके रूपायन के मसले पर भी दोनों के बीच व्यापक वैमत्य था। फिर भी उनके विचार अद्भुत रूप से एक दूसरे का पूरक बनकर भारतीय नवजागरण की विकास प्रक्रिया को अभीष्ट गति और दिशा प्रदान करते हैं। दोनों की निगाह में एक-दूसरे के विशिष्ट अवदान की ऐसी कद्र थी कि एक दूसरे को गुरुदेव कहता था, तो दूसरा उसे महात्मा।

गुरुदेव रवीन्द्र का जन्म कोलकाता के प्रसिद्ध बनर्जी कुल में हुआ था। उनका कुल अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता के कारण ठाकुर और कालांतर में टैगोर कहलाया। उन्नीसवीं सदी में उठने वाली नवजागरण संबंधी विचारधाराओं से ठाकुर कुल का गहरा संबंध था। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पितामह द्वारकानाथ ठाकुर ब्राह्मसमाज के सर्वमान्य नायक थे। उनके अथक प्रयास से समाज में व्याप्त कुत्सित रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की जकड़न शिथिल पड़ने लगी थी। नवजागरण की इस अरुणोदय वेला का संदेश लेकर आई आत्म-स्वातंत्र्य की नयी चेतना के आलोक में बालक रवि के विद्या-संस्कार का शुभारम्भ हुआ, पर शीघ्र ही उनका मन स्कूली शिक्षा की औपचारिकता से उचटने लगा। इस बीच ब्राह्मसमाजी पिता सामाजिक उत्तरदायित्व से उदासीन होकर आध्यात्मिक साधना में उत्तरोत्तर लीन होते गये। पिता के ध्यान के समय बालक रवि प्रायः उनके निकट रहता था और वहीं बैठकर खेला करता था। उसके कच्चे मन पर पिता की आध्यात्मिक भाव-भंगिमा का बड़ा पक्का चित्र उभर रहा था। पिता की ध्यानस्थ प्रशान्त छवि और उसका एकान्त प्रेम देखकर वह अभिभूत हो उठता था। उसके भावी जीवन-विकास की आधारशिला अनायास ही पिता की आध्यात्मिक भाव-भूमि के उदात्त धरातल पर निर्मित हुई।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिभा बहुमुखी थी। बचपन से ही उनके भीतर अध्यात्म और साहित्य के भावों का मार्मिक स्फुरण होने लगा था। आध्यात्मिकता की स्फूर्ति उन्हें अपने पिता से मिली थी और साहित्य-प्रणयन की प्रेरणा भाभी कादम्बरी देवी से। भाभी का आत्मीय प्रोत्साहन पाकर आठ वर्ष की अवस्था में ही वे कविता लिखने लगे थे। उनकी इन कविताओं का प्रकाशन 'तत्त्वबोधिनी' और 'साधना' नामक पत्रिकाओं में होता था जो उनके पारिवारिक प्रतिष्ठान द्वारा ही प्रकाशित होती थीं। भाभी के अन्तरंग सान्निध्य में उनकी साहित्यिक अभिरुचि उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। उनके इस उच्छल उपकार को जीवंत बनाते हुए, रवीन्द्रनाथ ने अपने आरम्भिक काव्य संग्रहों— 'शैशव संगीत' और 'भानु सिन्हा ठाकुर पदावली' को कृतज्ञतापूर्वक भाभी कादम्बरी देवी के नाम समर्पित किया। यही वह समय था जब उनका विवाह हुआ और गृहस्थी का गुरुतर उत्तरदायित्व भी ओढ़ना पड़ा। पर उनकी साहित्य-यात्रा अव्याहत गति से अग्रसर होती गई। सम्भावनाओं के नये-नये गवाक्ष उद्घाटित होने लगे।

संस्कृति सुरभि से सम्पन्न आँगन ने रवीन्द्रनाथ के संस्कार की जमीन तैयार की थी। औपनिषदिक साहित्य, मध्यकालीन हिन्दी संत कवियों की ज्ञानमूलक उद्भावना, सिलाईदह ( पूर्व बंगाल, सम्प्रति बाँग्लादेश ) के संक्षिप्त



प्रवास-काल में बाउल कवि लालन फकीर तथा अन्यान्य बांग्ला देश और वीर भूमि के प्रमुख बाउल कवियों के गान ने रवि ठाकुर की काव्य संवेदना को असाधारण समृद्धि दी। रवीन्द्रनाथ के काव्य-जगत में औपनिषदिक ज्ञान-ज्योति, संत काव्य की अध्यात्म चेतना और बाउल गान का उन्मुक्त आध्यात्मिक राग मुखर है। साहित्य की हरेक विधा पर उनकी रचना-शैली की अनूठी धार चढ़ने लगी थी। काव्य के अलावा निबंध, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि क्षेत्रों में भी उनके नाम का डंका बजने लगा। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' और नाटक 'चित्रांगदा' को बंगला साहित्य की अमूल्य धरोहर माना गया। उनकी कृतियों में प्रकृति के अप्रतिम सौन्दर्य के साथ जीवन के द्वन्द्वात्मक संघात से उत्पन्न होने वाले कोमल और कठोर भावों की अजखर धारा बहती है जो पाठक को लोकोत्तर आनंद के आस्वाद से आप्लावित कर देती है। गीति प्रधान काव्य रचनाओं में संगीत की मधुरिमा का अद्भुत सम्मिश्रण काव्य रसिकों को विस्मित और विमुग्ध बना देता है। सम्भवतः इसीलिए उनका गीति काव्य 'रवीन्द्र संगीत' का विशिष्ट अधिमान हासिल कर सका। बलाका, सोनार तरी, चित्रा, उर्वशी, गीतांजलि जैसी शीर्षस्थ रचनाएँ रवीन्द्र संगीत की सौंदर्य-आधारित आधारशिला हैं। 1910 ई. में प्रकाशित कालजयी रचना 'गीतांजलि' पर 1913 ई. में उन्हें विश्वप्रसिद्ध 'नोबल' पुरस्कार मिला। यह काव्य रचना टैगोर के बौद्धिक विकास एवं आध्यात्मिक चिन्तन का मानदण्ड साबित हुआ। डब्ल्यू. बी. कीट्स ने इस रचना को सर्वोच्च सांस्कृतिक कार्य माना था। अब तक उनकी ख्याति दिगन्त व्यापी हो चली थी। 1915 ई. में हुए जलियावाला बाग के नृशंस नरसंहार से मर्माहत इस विश्व कवि ने 'सर' के अलंकरण को टुकराकर अपनी मानवतावादी अभिरुचि का विरल दृष्टांत स्थापित किया।

टैगोर एक महान शिक्षाविद् भी थे। शिक्षा के सार्वभौमिक महत्त्व का निरूपण करते हुए उन्होंने इसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय के तादात्म्य से बताया है। वे औपचारिक शिक्षा की वायवीयता पर विश्वास नहीं करते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि बच्चों को स्कूल के कठोर कारावास से मुक्त कर प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में प्रशिक्षित किया जाये। विद्यार्थियों को अपनी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने की आजादी मिलनी चाहिए। शिक्षा के अन्तर्गत वे मानवीय मूल्यों और नैतिक आदर्शों का समावेश अपरिहार्य मानते थे। 'शिक्षार हेर फेर' नामक पुस्तक लिखकर तत्कालीन शिक्षा प्रणाली की व्यापक विसंगतियों पर करारा प्रहार भी किया

था। शिक्षा संबंधी अपनी मौलिक उद्भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने 1901 ई. में शांतिनिकेतन नाम से एक विद्यालय की नींव डाली थी जो प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण के बीच अवस्थित था। उनकी अदम्य इच्छा शक्ति और अथक प्रयास से कालांतर में यह विद्यालय एक विख्यात विश्वविद्यालय में परिणत हुआ। धीरे-धीरे यह विश्वविद्यालय शिक्षा, साहित्य, संगीत, कला और दर्शन का एक कीर्तिमान बन गया। टैगोर के विराट व्यक्तित्व की छाया में देश-विदेश की प्रतिष्ठित प्रतिभाएँ इस विद्या-संस्थान की सेवा के लिए उद्यत हुई थीं। विदेशी विद्वान् और विद्यार्थी यहाँ के सांस्कृतिक वातावरण के मुरीद बन गये। कृषि और लघु उद्योग के अभ्युत्थान के लिये उन्होंने श्रीनिकेतन में अप्रतिम उद्योग-प्रशिक्षण-केन्द्र की आयोजना की। उनकी अभिनव शिक्षा पद्धति और उदार जीवन दृष्टि सारे विश्व के आकर्षण का केन्द्र बन गयी थी। टैगोर की यह भूमिका बीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण का उज्ज्वल अध्याय है।

महामानव रवीन्द्रनाथ की विचारधारा, सह-अस्तित्व और विश्व-बंधुत्व के सार्वभौमिक सिद्धांतों को प्रोत्साहित करती है। वह उदारता, सहृदयता, विश्वास और वीरता का पाठ पढ़ाती है। दीर्घकालीन पराधीनता के प्रभाव से हमारा जातीय विश्वास संकुचित पड़ गया था, जिसे उन्होंने पुनः जागृत किया और इतना उर्जस्वित बनाया कि दुनिया की कोई ताकत उसे विचलित न कर सके। ये पंक्तियाँ वही लिख सकते थे कि 'यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे/तबे एकला चलो रे!' गाँधी जी के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी, लेकिन अपने विवेक के आग्रह पर वे अपना अलग मार्ग चुनते थे। रवीन्द्रनाथ का सारा जीवन चरित्र और उनका व्यापक रचना-संसार आत्मानुवेशी और आत्म-विवेक सम्पन्न बनाता है। वे मानवता के सच्चे उपासक थे; इसलिए अंग्रेजों की शिक्षा संस्कृति से उनका विरोध न था। पर उनकी शोषणनीति और दमन चक्र से वे आहत होते थे और मौका मिलने पर उसका तीव्र प्रत्याख्यान करते थे। वे आपद् धर्म की तर्ज पर राजनीतिक सम्मेलनों और आन्दोलनों में भी सदारत करते थे। गाँधी जी की ही भाँति जीवन और राजनीति में हिंसा के विरुद्ध थे। पर कई विचार-बिन्दुओं पर महात्मा गांधी से उनका वैमत्य सदा मुखर रहता था। वे आतताई के समुचित प्रतिकार के आग्रही थे। उन्होंने मानव-विरोधी प्रवृत्तियों से अंतिम दम तक लड़ते रहने की चेतना जगायी है। वे शक्ति के उपासक थे, और निर्भीकतापूर्वक कह सकते थे- 'शत्रु करा शक्तिर लखन'। अंग्रेजी साम्राज्य के अमानुषिक नीतियों और कुत्सिक प्रवृत्तियों का उन्होंने मुँहतोड़ जवाब दिया।

टैगोर यद्यपि एक व्यापक और सार्वभौमिक मानवतावाद के पक्षधर थे, पर अपने देश से उन्हें अगाध प्रेम था और उसके उद्धार के लिए वे तड़पते रहते थे। बंग-भंग और जलियावाला बाग हत्याकाण्ड के समय उनका राष्ट्र प्रेम उदग्र हो उठा था। उनका हृदय अत्यंत सुकुमार था। मानवता की अवहेलना उनकी संवेदना और विवेक को असह्य थी। देश की शोषित, पीड़ित और उपेक्षित जनता के प्रति उनके मन में अपार सहानुभूति थी और उसके उत्थान का वे बार-बार आह्वान करते हैं। उन्होंने जाति, भाषा और धर्म से ऊपर उठकर एक व्यापक राष्ट्रीय एकता पर विशेष बल दिया है। राष्ट्रीय एकता और उसकी अस्मिता से प्रेरित होकर ही उन्होंने स्वाधीनता पूर्व हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने का स्वर बुलंद किया था। उनका हिन्दी प्रेम दिखावा मात्र नहीं था अपितु राष्ट्रोत्थान के निमित्त किया गया सत्संकल्प था। आचार्य क्षितिमोहन सेन के संसर्ग में उन्होंने मध्यकालीन हिन्दी कवियों का गहन अध्ययन भर नहीं किया, उनके द्वारा संपादित 'कबीर-वाणी' के एक सौ पदों का रम्य पद्यानुवाद कर अपना हिन्दी-प्रेम जग जाहीर कर दिया था। अपने कृपाभाजन अध्यापक हजारी प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी-निष्ठा को बहुविध प्रोत्साहित करते थे। यही नहीं हिन्दी के व्यापक हित-सम्पादन से अनुप्राणित होकर विश्वविद्यालय परिसर के भीतर विशाल हिन्दी भवन की प्राण-प्रतिष्ठा की। हिन्दी के प्रति उनकी यह सदाशयता भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में उनके उन्नत-विवेक और अनन्य देशभक्ति का ज्वलंत साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

राष्ट्रीय गरिमा और सार्वभौमिक मानवतावाद के प्रति रवीन्द्रनाथ की निष्ठा आजीवन अडिग रही। अपने आखिरी दिनों में देश की दुर्दशा देखकर यद्यपि वे खिन्न थे, पर निराश नहीं। मृत्यु के आसन्न दिनों में उनकी आत्मा उनसे सवाल कर रही थी-

“भगवन् तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में दूत भेजे  
वे कह गये हैं-क्षमा करो,  
कह गये हैं- प्रेम करो, अन्तर से विद्वेष का विष नष्ट कर दो  
वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे  
तो आज दुर्दिन के समय, उन्हें निरर्थक नमस्कार के साथ,

बाहर के द्वार से लौटा दे रहा हूँ।

मैंने देखा है- गोपन हिंसा ने, कपट-रात्रि छाया में, निःसहाय को मारा है।

मैंने देखा है- प्रतिकारहीन सबल के अत्याचार से, विचार की वाणी को नीरव

एकांत में रोते हुए।

मैंने देखा है- तरुण बालक को उन्मत्त होकर दौड़ते हुए, घोर यंत्रणा में पत्थर पर सिर पटक-पटक कर मरते हुए।

आज मेरा कंठ अवरुद्ध हो गया है, वंशी का स्वर निस्तब्ध हो गया है, आमावास्या की कारा ने हमारे संसार को दुःखस्वप्नों में

लुप्त कर दिया है।

इसीलिए अश्रुपूर्ण आँखों से तुमसे पूछ रहा हूँ-

जो लोग तुम्हारी वायु को विषाक्त बना रहे हैं, और प्रकाश को

बुझा रहे हैं,

क्या तुमने उनको क्षमा कर दिया है? क्या तुमने उनको प्यार

भी किया है?”

इस कविता में संकटग्रस्त मानवता का बड़ा ही हृदय-विदारक किन्तु यथार्थ बिम्ब अंकित किया गया है। हिंसा, घृणा और विद्वेष के जहरीले धुँएँ से सारे समाज का दम घुँट रहा है। हम मूक दर्शक बनकर दैवी सत्ता अथवा बाह्य सहायता का मुँह नहीं जोह सकते। कवि का आशय स्पष्ट है कि जो खुद अपनी मदद नहीं कर सकता, उसे अन्य का सहारा भी नहीं मिलता। उसके द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सम्बन्ध उनके मनुष्यों से है, जो अत्याचार सहन करते हुए निरन्तर अपनी प्राणशक्ति खोते जा रहे हैं। कवि उनके विवेक को झकझोरते हुए पूछता है कि क्या वे मानव द्रोहियों को प्यार करना अथवा माफ करना उचित समझते हैं? इन प्रश्नों के माध्यम से उसने मानवता की प्रतिगामी शक्तियों को कुचलने और उन्हें निरुत्तर करने का जबर्दस्त आह्वान किया है।

रवीन्द्र वाणी की अमोघ शक्ति समाज से भय और भयकारक तत्वों को अपदस्थ करने और मनुष्य जाति की अप्रतिहत जय-यात्रा को साकार बनाने में चिर सहायक है।

संपर्क : EB2/2A जेंगरा, हथियारा रोड

बागुईहाटी, कोलकाता-700059

मो. 9831480895

## प्राच्यवाद और हिन्दी नवजागरण

डॉ. प्रभात कुमार मिश्र

हिंदी विभाग, असम विश्वविद्यालय,  
सिलचर, असम

“हर सुसंस्कृत समाज में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार सत्ता और विवेक के लिए उपयुक्त कर्तव्य हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि ऐसे ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग हो या फिर यह जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक होता हो... यदि हम किसी भी समाज के अत्यन्त प्राचीन इतिहास और परम्परा पर प्रकाश डालने में सफल होते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि इससे उस समाज का कोई विशेष कल्याण होगा..., तथापि ज्ञानार्जन से मस्तिष्क का विकास होता है और विचारों और दृष्टिकोण में उदारता आती है... ऐसे विषयों का अध्ययन या किसी दार्शनिक का सोच किसी भी समाज के विकास और मानवता की सुख-समृद्धि में सहायक हो सकता है।”

-26 दिसम्बर, 1822 को एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के अध्यक्ष वॉरेन हेस्टिंग्स के विदाई समारोह में सोसाइटी के उपाध्यक्ष का वक्तव्य।

इस आलेख के शीर्षक में शामिल दोनों ही पदों के सम्बन्ध में आज के बौद्धिक और अकादमिक जगत में खूब विवाद है। हिन्दी नवजागरण के स्वरूप और उसके विभिन्न पहलुओं से जुड़े विवादों पर आज दुनियाभर के विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों में विचार किया जा रहा है। यह बेहद महत्वपूर्ण बात है कि हिन्दी नवजागरण सम्बन्धी अध्ययनों में हिन्दी और हिन्दीतर ज्ञानानुशासनों के भारतीय-अभारतीय विद्वानों ने अपनी गहरी दिलचस्पी का परिचय दिया है। नवीन दृष्टियों और पद्धतियों पर आधारित इन विद्वानों के शोध-अध्ययनों से हमारे सामने भारतीय नवजागरण और विशेषकर हिन्दी नवजागरण के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक-साम्प्रदायिक, भाषिक और वर्चस्वकारी आधारों का खुलासा हुआ है। विडम्बना यह है कि जैसे-जैसे हिन्दी नवजागरण से सम्बन्धित नई सामग्री आ रही हैं, पुरानी उपलब्ध सामग्री का सम्पादन, प्रकाशन और मूल्यांकन हो रहा है, शंकाओं का समाधान होता जा रहा है, सवालों का उत्तर मिलता जा रहा है उसी अनुपात में दूसरी तरफ नए सवाल और विवाद भी उभरते जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि अकादमिक दुनिया की प्रकृति ही ऐसी है कि ‘मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की’। हिन्दी नवजागरण असल में हिन्दू नवजागरण या कि हिन्दी आन्दोलन था जिसके मूल में हिन्दी भाषा, नागरी लिपि तथा हिन्दू परम्पराओं के पुनरुत्थान की ही बात निहित थी, इन सवालों पर इन दिनों प्रमुखता से विचार हो रहा है। इन सवालों-समस्याओं पर नवजागरण के संदर्भ में विचार करने के पीछे वस्तुतः वर्तमान भारत की समस्याओं का कारण और निवारण खोजने की अनिवार्यता छुपी है। उत्तरऔपनिवेशिक भारत के लोगों में विकसित हो रही दुविधापूर्ण मनःस्थिति और देशी भाषा, संस्कृति तथा अस्मिता पर आसन्न खतरे की वजह से भी राजनीतिक-सामाजिक सिद्धांतकार उपनिवेशकालीन भारत में हुए नवजागरण की ठीक-ठिकाने की खोजबीन में प्रवृत्त हुए हैं।

दूसरी तरफ एडवर्ड सईद की किताब ‘ओरिएण्टलिज्म’ (1978) से शुरू प्राच्यवाद से सम्बन्धित विवादों की भी किताब के ही समानान्तर एक लम्बी परम्परा रही है। समानान्तर इसलिए कि खुद सईद ने

1995 में अपनी किताब में 'आप्टर वर्ड्स' लिखकर अपने ऊपर लगे आरोपों की सफाई भी दी है। एडवर्ड सईद तुलनात्मक साहित्य के मान्य अध्येता रहे हैं। अपने विचारों के माध्यम से सईद ने साहित्य को अन्तरावलम्बी अनुशासनों के आलोक में देखे जाने का प्रस्ताव करते हुए साहित्य की सामाजिक-राजनीतिक भूमिका को प्रमुखता प्रदान किया है। सईद ने एक बुद्धिधर्मी की संवादी भूमिका को निबाहते हुए अपनी इस किताब में प्राच्यवाद के माध्यम से पूरब के बारे में पश्चिम द्वारा गढ़े गए मिथों के छल को उजागर करके पूरब के उपनिवेशीकृत मस्तिष्क को मुक्त और स्वायत्त बनाने की वैचारिकी दी तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के खतरे के प्रति आगाह किया है। दूसरी तरफ हम यह भी पाते हैं कि सईद की इस किताब के छपने के बाद से ही यह शब्द सामान्य व्यवहार में 'नकारात्मक आशय' का प्रतीक हो गया है। इसका कारण यह है कि सईद के समूचे विमर्श में विवाद और आलोचना के अनेक संदर्भ मौजूद हैं। वस्तुतः सईद ने अपने अरब के अनुभवों और अध्ययनों से प्राप्त निष्कर्षों का सामान्यीकरण करके उसे समूचे पूरब का निष्कर्ष बना दिया है। अपने प्राच्यवाद की निर्धारित परिभाषा के दायरे का अतिक्रमण करने वाली बातों की उन्होंने उपेक्षा कर दी और प्राच्यवाद को एक नकारात्मक श्रेणी में विकसित कर दिया। विद्वानों ने गौर किया है कि सईद ने अधिकांशतः प्राच्यवाद से जुड़ी हुई अतिशयोक्तियों, नस्लवाद और शत्रुभाव पर ही जोर दिया है और प्राच्यवाद के तमाम वैदुष्यमूलक और मानवतावादी पक्षों की उपेक्षा की है। भारतीय सिद्धांतकार एजाज अहमद ने अपनी किताब 'इन थियरी' में सईद की किताब को गंभीर गलतियों वाली किताब (Deeply flawed book) कहा है और सईद की आलोचना करते हुए यह बात रेखांकित की है कि सईद ने उपनिवेश से पीड़ित लोगों की प्रतिक्रिया की चर्चा नहीं की है कि किस प्रकार उन्होंने अपने बारे में गढ़ी गई पश्चिम की धारणाओं को स्वीकारा या फिर उनका प्रतिकार किया। इतिहासकार इरफान हबीब ने अपने आलेख 'इन डिफेंस ऑफ ओरिएण्टलिज्म' (सोशल साइंटिस्ट, जनवरी-फरवरी 2005) में इस बात की चर्चा की है कि सईद प्राच्यविद्यावादी ज्ञान के एक बेहद महत्वपूर्ण

पहलू को बेहिचक खारिज कर देते हैं और वह है हमारे ज्ञान के विस्तार में लगातार विकसित हो रहे जटिल वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग। इरफान हबीब ने दिखाया है कि किस प्रकार सईद खुद यह स्वीकार करते हैं कि प्राच्यवाद के दायरे में उन अनेक विद्वानों द्वारा किए गए कार्य सम्मिलित थे जिन्होंने सामग्रियों का संपादन और अनुवाद, व्याकरणों का सूत्रीकरण, शब्दकोशों का निर्माण और मृत या विस्मृत हो चुके कालावधियों को पुनर्जीवित किया और साथ ही प्रमाणित किए जा सकने वाले वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति का विकास किया था। इरफान हबीब के अनुसार सईद यह नहीं देख पाते कि ये सारे कार्य अतीत और वर्तमान को लेकर हमारे बुनियादी धारणाओं को बदलते हैं। जो समाज पहले अपरिवर्तनशील या ठहरे हुए बंद से माने जाते थे वे प्राच्यविद्याविदों के इन पुरातात्विक खोजों, स्रोतों के गहन अध्ययनों व व्यापक फील्ड-वर्क के बाद परिवर्तनशील व खुले हुए साबित हुए।

यदि हम भारत के संदर्भ में सईद की निष्पत्तियों पर विचार करें तो मामला और उलझ जाता है। भारत के संदर्भ में प्राच्यवाद का काल सामान्यतया 1774 से 1835 तक माना जाता रहा है यानि कलकत्ता में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से लेकर मैकाले की शिक्षा नीति के आरम्भ तक (द्रष्टव्य 'ब्रिटिश ओरिएण्टलिज्म एण्ड बंगाल रेनेसांस', डेविड कॉफ़)। सईद की अवधारणा स्वीकारते हुए अगर हम भारत से सम्बन्धित बाद के भी समूचे पश्चिमी अध्ययन को ध्यान में रखें तो भी निष्कर्ष अधिकतर एक जैसे ही होंगे क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के भारत सम्बन्धी अध्ययनों में जितनी दिलचस्पी और सफलता जर्मन प्राच्यविद्याविदों को मिली वह ब्रिटिश प्राच्यविद्याविदों से कहीं बढ़कर है। गौर करने की बात यह है कि सईद की स्थापना के ठीक उलट हम यह पाते हैं कि भारत तो जर्मनी का कभी उपनिवेश रहा ही नहीं इसलिए जर्मन प्राच्यविद्याविदों के माध्यम से औपनिवेशिक वर्चस्व की तो बात ही नहीं आती।

फिलहाल हम ऊपर लिखी अवधि को ही ध्यान में रखते हैं। सईद ने भी आधुनिक उपनिवेशवाद के दो सोपानों की चर्चा की है- अप्रकट (Latent) और प्रकट (Manifest)। अप्रकट प्राच्यवाद को वह आरंभिक प्राच्यविद्याविदों,

ज्ञानकेंद्रित पेशों, विश्वविद्यालयों, खोजी संगठनों, प्रेस इत्यादि से जोड़ते हैं जिन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को बिखेरने के साथ-साथ पूरब को उसके प्राचीन सत्व से अवगत भी कराया। भारतीय संदर्भ में सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, प्रिन्सेप, पिशेल, मैक्समूलर, ग्रियर्सन आदि सईद की इसी अप्रकट प्राच्यविद्यावादियों की कोटि में आते हैं। सईद का इनपर आरोप है कि इनका प्राच्यवाद यथास्थितिवादी था और संवादी भी नहीं था इसलिए इन्होंने पूरब को जितना खोजा है उससे अधिक निर्मित किया है। सईद के अनुसार बाद के प्रकट प्राच्यवाद के दौर में पश्चिम के प्राच्यविद्याविद साम्राज्यवादी सत्ता को सुझाव देने लगे और उसके अंग बन गए। भारत के संदर्भ में कर्जन, मैकाले, जेम्स मिल आदि ऐसे ही प्राच्यविद्याविद हैं।

यह दिलचस्प ही नहीं बल्कि हमारे लिए बेहद जरूरी हो जाता है कि हम भारत से सम्बन्ध रखने वाले इन प्राच्यविद्यावादियों पर लगे सईद के आरोपों की परख करें क्योंकि इसका गहरा सम्बन्ध हमारे देश और विशेषकर हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण से है। दिलचस्पी का कारण यह है कि हिन्दी नवजागरण पर विचार करने वाले परस्पर विरोधी विचारकों के बीच भी इस मुद्दे पर लगभग सहमति-सी है। हिन्दी नवजागरण की अवधारणा के सूत्रधार रामविलास शर्मा ने अपने निबन्ध 'विलियम जोन्स और भारतीय संस्कृति' में जोर देकर कहा है कि विलियम जोन्स ने भारत के बारे में जो कुछ भी कहा है, वह आज भी हमारे लिए प्रासंगिक है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। रामविलास जी के अनुसार आगे चलकर मैकाले ने भारतीय साहित्य के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया, वह विलियम जोन्स के दृष्टिकोण से बिल्कुल उल्टा था। उन्होंने लिखा है कि विलियम जोन्स की रचनाओं में भारतीय संस्कृति का जो पक्ष उभरकर सामने आता है, उससे हम आश्चर्य हो सकते हैं कि उसके आधार पर अंग्रेजी राज के बिना भी भारत नवजागरण की ओर बढ़ सकता था, और ज्यादा अच्छी तरह बढ़ सकता था। यहाँ तक कि अपने मार्क्सवादियों को भी नसीहत देने की भाषा में उन्होंने लिखा है कि मार्क्सवादियों के लिए यह आवश्यक है कि भारत के सम्बन्ध में मार्क्स की स्थापनाओं पर विचार करते हुए विलियम जोन्स को भी पढ़ें। यही नहीं

अपनी किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में भी जगह-जगह बचने की कोशिशों के बीच भी इस सम्बन्ध में रामविलास शर्मा की मान्यताएँ झलकती हैं। रामविलासजी ने महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'पूर्वीय विद्वानों की कांग्रेस' शीर्षक से 'सरस्वती' (जनवरी, 1909) में लिखी टिप्पणी को उद्धृत किया है "मतलब यह कि इस सभा में भारतीय बातों की अच्छी चर्चा रही। पर अफसोस इस बात का है कि हिन्दुस्तान से हजारों कोस दूर बैठकर, और समय तथा धन की हानि सहकर, विदेशी विद्वान भारतीय विद्या की चर्चा करें और यहाँ के अहम्मानि विद्वान कूपमंडूकवत् पड़े-पड़े पुराने स्वप्न देखा करें।" ऐसे अनेक प्रसंग इस किताब में देखे जा सकते हैं।

दूसरी तरफ रामविलास जी की हिन्दी नवजागरण सम्बन्धी मान्यताओं और स्थापनाओं से टकराने वाले डॉ. वीरभारत तलवार भी अपनी किताब 'रस्साकशी' (2002) में इससे मिलती-जुलती राय के साथ ही सामने आते हैं। इनके अनुसार भारतीय नवजागरण की खासियत यूरोपीय संपर्क से हासिल आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात करके, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मुआफिक एक आधुनिक समाज बनाने की आत्मनिर्भर कोशिशों में थी। इसी किताब में उन्होंने अन्यत्र लिखा है कि "19वीं सदी की औपनिवेशिक सरकार भारतीयों को अंग्रेजी में आधुनिक शिक्षा चाहे जिस मकसद से देती रही हो, भारतीयों के लिए इसे पाने का मतलब सरकारी नौकरियों मिलने की उम्मीद के अलावा यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और आधुनिक विचारों के संपर्क में आना था। इसके जरिए वे न सिर्फ भारत में ब्रिटिश शासन के आर्थिक-राजनीतिक पक्षों को, उसकी कार्यप्रणाली और नतीजों को बेहतर ढंग से समझ सकते थे बल्कि देश की नई परिस्थितियों के बीच अपना रास्ता खोज निकालने की क्षमता भी हासिल कर सकते थे। नई शिक्षा से उन्हें शासन के विभिन्न अंगों की जानकारी के अलावा पश्चिम में उभरे लोकतंत्र, व्यक्ति की वैयक्तिकता, प्रेस के जरिए सामाजिक जागरूकता लाने के तौर-तरीकों, मौलिक नागरिक अधिकारों और धर्म बनाम नैतिकता के प्रश्नों के साथ-साथ अपनी परंपरा को विवेक की कसौटी पर जाँचने-परखने की अवधारणा भी मिली जो भारतीय

नवजागरण का मूल आधार बनी।” उनके अनुसार 19वीं सदी के भारत का सम्पर्क एक जीवन्त यूरोप से हुआ था। अब यह कहकर बताने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन्तता एकतरफा नहीं होती बल्कि जीवन्तता सामने वाले को भी जीवन्त बनाने की कोशिश में ही जीवन्त बनी रहती है। तलवार जी ने इस विषय में साफ कुछ कहने से बचते हुए लिखा है कि यह समझना भ्रामक होगा कि भारतीय नवजागरण सिर्फ पश्चिमी विचारों के सम्पर्क की सीधी-सरल देन था। वास्तव में यह दो विचारदृष्टियों की टकराहट से पैदा हुई बेचैनी का नतीजा था। यह कई पक्षोंवाली द्वन्द्वभरी जटिल प्रक्रिया थी। जिसका प्रभाव लिया जा रहा था, उसका विरोध भी किया जा रहा था।

इस बात पर तो कम या अधिक सभी सहमत ही हैं कि केवल साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरोध की बात को छोड़कर अन्य सभी बिंदुओं, जिनको मिलाकर नवजागरण की अवधारणा सामने आती है, मसलन इतिहास और साहित्य का नया मूल्यांकन करते हुए ऐतिहासिक दृष्टि की प्रतिष्ठा, परंपरा का युगानुकूल संदर्भों में उपयोग, जातीय शिक्षा पर जोर, स्वत्व गठन की गंभीर कोशिश और विवेक तथा तर्कशीलता की स्थापना पर प्राच्यविद्याविदों का असर है। ऐसा नहीं है कि भारत को लेकर ये प्राच्यविद्याविद भी अचानक ही कृपालु हो गए थे बल्कि विद्वानों ने इसके पीछे यूरोपीय ज्ञानोदय की तर्कशीलता, फ्रांसीसी क्रांति से प्राप्त मनुष्यमात्र के एक होने की चेतना और जर्मन स्वच्छन्दतावाद का गहरा असर लक्षित किया है। इमानुएल कांट ने यूरोपीय ज्ञानोदय की विवेचना करते हुए कहा था कि इसकी मुख्य उपलब्धि आंतरिक संकीर्णताओं से मुक्ति की चेतना के प्रसार में है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए प्राच्यविद्यावादियों पर सीधे उपनिवेशवाद के हितैषी होने का आरोप लगाने वालों को यह नहीं भूलना चाहिए कि एक तरफ संकीर्णताओं से मुक्ति की शिक्षा और दूसरी तरफ यह ‘अपना’ (Self) है और यह ‘अन्य’ (Other) है की बात साथ-साथ नहीं चल सकती। यही कारण है कि भारत से प्राप्त ज्ञान के महत्व को लेकर स्वयं यूरोप में जितनी संवेदनशीलता थी उतनी हमारे यहाँ नहीं थी। इस संदर्भ में मैक्समूलर की किताब ‘India : what

can it teach us?’ और रेमां श्वाब (Raymond Schwab) की किताब ‘The Oriental Renaissance’ (1950) को देखा जा सकता है।

बहरहाल, एक बात तो साफ है कि भारतीय नवजागरण पर प्राच्यवाद का गहरा असर था। विवाद केवल इस बात को लेकर है कि हिन्दी नवजागरण में उसका प्रभाव कम था या कि अधिक। सारी लड़ाई इस बात में है कि नवीन विकसित इतिहास दृष्टि से जो इतिहास लिखा जा रहा था वह कैसा था और स्वत्व का गठन किसके पक्ष में जा रहा था। असल में भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण दोनों के संदर्भ में ही इस बात का उतना महत्व नहीं है कि इतिहास कैसा है जितना कि इतिहास है, यह विचारकों के लिए महत्व का सवाल हो सकता है कि स्वत्व पर किसका वर्चस्व है किन्तु यह बात अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है कि स्वत्व का विकास हुआ। यह इसलिए कि यदि एकबार इतिहास की चेतना का विकास हो गया तो गलत इतिहास की जगह सही इतिहास भी सामने आकर ही रहेगा, आरंभ में यदि असंतुलन है तो उसकी अंतिम परिणति भी असंतुलित ही होगी ऐसा कहना ठीक नहीं है। ऐसा नहीं होता कि एकबार आप किसी को बंदूक चलाना सिखा दें और फिर उससे यह अपेक्षा भी करते रहें कि वह आगे सिर्फ उत्तर दिशा में ही बंदूक चलाएगा। वह भी तब जबकि नवजागरण एक समयबद्ध कार्यक्रम न होकर दीर्घकालव्यापी अवधारणा हो। इसलिए केवल साम्राज्यवाद के विरोध को ही हिन्दी नवजागरण की धुरी मान लेना संगत नहीं जान पड़ता। यह इसलिए कि साम्राज्यवाद के विरोध की चेतना के विकास के माध्यम से इतिहास की जानकारी और वैज्ञानिक सोच का प्रसार नहीं हो गया बल्कि इतिहास और वैज्ञानिक सोच ने ही साम्राज्यवाद के विरोध की भावना का प्रसार किया। हिन्दी नवजागरण पर विचार करते हुए नामवर सिंह ने अपने निबन्ध ‘हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ’ में ठीक ही संकेत किया है कि भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों की दृष्टि में अंग्रेजी राज की चुनौती राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी।

इस सम्बन्ध में एक और भ्रम का निवारण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राच्यवाद पर बात करने वाले



विचारकों ने प्रायः ही अपना ध्यान रॉयल एशियाटिक सोसाइटी और उससे जुड़े विद्वानों पर ही केंद्रित किया है। यही कारण है कि बंगाल के नवजागरण पर तो प्राच्यवाद के असर का मूल्यांकन हुआ भी है किन्तु हिन्दी नवजागरण से उसके सम्बन्ध का अंदाजा नहीं लग पाता। जबकि हम साफ देख सकते हैं कि बाद के लोगों में कम-से-कम मैक्समूलर (1823-1900) और जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1851-1941) ऐसे दो बड़े नाम हैं जिनका समय ठीक हिन्दी नवजागरण का समय है। ग्रियर्सन के अवदानों पर हिन्दी में अभी ठीक से विचार नहीं किया गया है। ऐसा करना इस दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण साबित होगा कि ग्रियर्सन के अध्ययन की भौगोलिक सीमा हिन्दी क्षेत्र का वह प्रदेश है जिस पर हिन्दी नवजागरण के प्रसंग में बात नहीं की गई है। ग्रियर्सन की कृतियों का सम्बन्ध बिहार से है। हम जानते हैं कि हिन्दी नवजागरण से सम्बन्धित विमर्शों का भूगोल प्रायः ही पश्चिमोत्तर प्रान्त (पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि) रहा है। केवल इस कारण से कि इस प्रसंग में बिहार पर बात नहीं हुई है इसीलिए होनी चाहिए, ऐसी बात नहीं है। यदि हम केवल ग्रियर्सन के कामों के शीर्षक को ही देखें तो इस संदर्भ में हमें उनके महत्व का अंदाजा लग सकता है। उनके कामों का एक बड़ा हिस्सा संस्कृत (प्राच्यविद्यावादियों पर संस्कृत से आगे नहीं बढ़ने का आरोप लगता रहा है) से नहीं बल्कि लोक और लोकभाषाओं से जुड़ा हुआ है। 'ए हैन्डबुक टू द कैथी कैरेक्टर' (1881), 'सेवन ग्रामर्स ऑफ द डायलेक्ट्स एण्ड सब डायलेक्ट्स ऑफ द बिहारी लैंग्वेज' (1883-87), 'बिहार पीजेन्ट लाइफ' (1885), 'द बर्थ ऑफ लोरिक' (1929) आदि पुस्तकों के अलावा एशियाटिक सोसाइटी के जर्नलों में एवं अन्य बुलेटिनों में प्रकाशित 'द सौंग ऑफ आल्हाज मैरेज : ए भोजपुरी एपिक', 'सम बिहारी फोक सौंग्स, सम भोजपुरी फोक सौंग्स', 'लैंग्वेज ऑफ मगहिआ डोम्स', 'ऑन द कुरमीज ऑफ बिहार', 'छुटियानागपुर एण्ड उड़ीसा' आदि शोध-आलेखों को देखना इस संदर्भ में महत्वपूर्ण होगा। बिहार के मधुबनी जिले में आज भी उनके नाम से प्रचलित 'गिलेशन बाजार' जनसामान्य के बीच उनकी अपार लोकप्रियता का जीता-जागता प्रमाण है। ग्रियर्सन ही थे

जिन्होंने जोर देकर कहा था कि "It is a country with its own tradition, its own poets and its own pride in everything belonging to itself." (एन इंट्रोडक्सन टू द बिहारी लैंग्वेज ऑफ नार्थ बिहार)।

क्या कारण है कि हिन्दी समाज में आत्महीनता के बरक्स आत्मगौरव का भाव भरने के उद्देश्य से 1912 में लिखी 'भारत-भारती' में भी मैथिलीशरण गुप्त यह कहने को विवश हैं कि - "सचमुच ब्रिटिश साम्राज्य ने हमको बहुत कुछ है दिया/विज्ञान का वैभव दिखाया, समय से परिचित किया/उससे हमारी कीर्ति का भी हो रहा उपकार है/बहु पूर्व चिह्नों का हुआ वा हो रहा उद्धार है।" या कि - "है ब्रिटिश शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गए/स्वाधीन हैं हम धर्म में, सब भय हमारे भग गए/निज रूप को फिर हम सभी कुछ-कुछ लगे हैं जानने/निज देश भारतवर्ष को फिर हम लगे हैं मानने।" क्या हम महाकवि रवीन्द्रनाथ की इस बात को असावधानी से कहा गया मान लें जो कि उन्होंने 1917 में एनी बेसेन्ट की नजरबन्दी का विरोध करते हुए कहा था- "मैंने अंग्रेजों में भी ऐसे कई महात्मा देखे हैं जो अपने देशवासियों की लांछना सहकर भी इंग्लैंड के इतिहास-वृक्ष का अमृत फल भारतवासियों तक पहुँचाने के लिए उत्सुक हैं। अपने बीच भी हम ऐसे यथार्थ मनुष्य चाहते हैं जो बाह्य दुःख और देश-बांधवों का धिक्कार सहने के लिए प्रस्तुत हों, जो विफलता की आशंका छोड़कर मनुष्यत्व का प्रकाशन करने के लिए व्यग्र हों।"

बहरहाल, हिन्दी नवजागरण के सम्बन्ध में प्राच्यविद्यावादी अध्ययनों पर विचार करते समय हमें इसे उपनिवेशवाद, उत्तर-उपनिवेशवाद तथा आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता जैसी व्यापक अवधारणाओं के साथ जोड़कर एक दूसरे धरातल पर भी समझना होगा। भारत में अठारहवीं सदी के आखिरी दौर से शुरू होकर मोटे तौर पर उन्नीसवीं सदी के आरंभिक हिस्से में जिस प्रकार प्राच्यविद्यावादों ने संस्कृत की क्लासिकी परम्पराओं में अपनी खास दिलचस्पी दिखायी और फिर बाद के अध्येताओं ने, तुलनात्मक रूप में, हमारे देशीभाषा में रचे साहित्य को, कमतर या हीनतर साबित करने का प्रयास किया। उन्होंने यूरोपीय इतिहास-दृष्टि को हमारे यहां आयातित करते हुए

हमारे आरंभिक क्लासिकी काल को महत्वपूर्ण माना, फिर वे मध्यकाल की इतिहास अवधारणा को ले आए और यह साबित करने का प्रयास किया कि जिस तरह यूरोप में मध्यकाल एक तरह का 'अंधकार काल' है, वैसा ही कुछ भारत में भी घटित होता है। फिर जिस तरह यूरोप में वे रेनेसां या पुनर्जागरण काल को पन्द्रहवीं सदी से उदयमान होता मानते हैं और उसे 'प्री-माडर्न' काल का दर्जा देते हैं उसी तरह बाद के उन्नीसवीं सदी को यूरोप के ज्ञानोदय से जोड़ते हुए उसे अठारहवीं सदी के मध्यकाल से ही अंगड़ाई लेता हुआ मानते हैं। अब इस इतिहास दृष्टि वाली अवधारणा को जब वे अपने उपनिवेश भारत पर लागू करते हैं तो क्लासिकी काल के समृद्ध अतीत को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु आधुनिक काल की शुरुआत का श्रेय स्वयं को देने वाली अपनी प्राच्यविद्यावादी पश्चिमपरस्त दृष्टिकोण की वजह से, उसे भारत में अपने आगमन के साथ जोड़ते हैं।

इस तरह वे हमारे अपने रेनेसां को- जो यूरोपीय रेनेसां की तरह ही पन्द्रहवीं सदी में भक्तिकाल के रूप में प्रकट होता है- मध्यकाल का हिस्सा बनाकर उसी अंधकार काल के हवाले कर देते हैं, जो मध्यकाल की निशानी या पहचान है। उनके अनुसार आधुनिक काल शुरू होता है सन् 1800 के आसपास जब वे भारत में स्थापित होकर, यहां आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को लाते हुए, कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज को एक आधुनिक ज्ञान-संस्था के रूप में लोकार्पित करते हैं।<sup>1</sup> क्लासिकी संस्कृतकाल को महत्व देते हुए ये प्राच्यविद्यावादी हमारे तमाम उत्तर विकास को उस अतीत की तुलना में हीनतर बनाकर खारिज कर देते हैं और फिर आधुनिक काल में, उनके अनुसार, जो विकास आरम्भ होता है वह भी अपनी प्रकृति में परमुखापेक्षी-यानी यूरोपकेंद्रित होता है।

प्राच्यविद्यावाद के संदर्भ में हिन्दी के आलोचक नामवर सिंह की राय है कि एडवर्ड सईद ने अपनी किताब में यह दिखाने की कोशिश की है कि "जिसको 'ओरियन्टलिज्म', 'ओरियन्टल' और 'ओरियन्टलिस्ट स्कॉलर' कहते हैं, वह 'ओरियन्टलिज्म' उन्नीसवीं सदी के पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों की एक सृष्टि थी। यह एक ऐसी अवधारणा थी, जो केवल अमूर्त नहीं थी, बल्कि

इसके नखदन्त भी थे। इस 'ओरियन्टलिज्म' के द्वारा पूर्व के देशों की संस्कृति को एक विशेष प्रकार के रोमांटिक प्रभामंडल से ढँककर रखा जाता था, जिस प्रभामंडल का निर्माण वे अध्यात्मवाद के द्वारा करते थे। वे कहते थे कि पश्चिम भौतिकवादी है और पूर्व आध्यात्मवादी है। इस आध्यात्म का ढोल पीटते हुए हम लोगों को और पूरब के लोगों को भौतिक स्तर पर ये गुलाम बनाए रखते थे और हम लोगों को केवल अध्यात्म-चिंतन में ही रत देखना चाहते थे।'<sup>2</sup> अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह ने बताया कि "डॉ. ग्रियर्सन ने पूरे प्राचीन हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन उस रहस्यवादी गुणवत्ता के कारण किया है, जिसे उन दिनों 'क्रिस्टोमैथी' कहा करते थे। जिन लोगों ने 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' नाम की पुस्तक देखी होगी अथवा उसका हिन्दी अनुवाद देखा होगा, उन्होंने देखा होगा कि उसमें विद्यापति भी उसी 'क्रिस्टोमैथी' के प्रभाव में हैं, सूर उसी में हैं, जायसी हैं, तुलसी हैं, सारी-की-सारी परम्परा, रीतिकाल को छोड़कर उसी में है। यह पूरी-की-पूरी व्याख्या हमारी परम्परा की उस एक विशेष प्रकार के रहस्यवाद के द्वारा की गई थी और ग्रियर्सन ने अपने ढंग से दिखाने की कोशिश की थी कि मध्ययुग के सन्तों, भक्तों और कवियों सभी में जिस प्रकार की रहस्य-चेतना दिखाई पड़ती थी, समूचा हिन्दी साहित्य उसी रहस्य-चेतना से व्याप्त है।'<sup>3</sup> आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस पर यह महत्वपूर्ण टिप्पणी दर्ज की है - "यूरोपवालों को हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसंद आती है। भारतीयों की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पश्चिम में बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल में कई बातें हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धिशैथिल्य पर परदा डालते हैं। अतः चर्चा या तारीफ करने वालों में कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो चाहते हैं कि यह परदा पड़ा रहे। दूसरी बात यह है कि शब्द पूरबी और पश्चिमी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बाँधते हैं जिससे पश्चिम में हमारे सम्बन्ध में एक प्रकार का कुतूहल-सा जाग्रत रहता है और हमारी बातें वहाँ अनूठेपन के साथ कही जा सकती हैं।'<sup>4</sup>

हालांकि जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' में जो कुछ कहा है उससे नामवर सिंह की इस मान्यता का प्रत्याख्यान ही होता है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "भारत में पूर्व का एक रहस्यात्मक इन्द्रजाल दृष्टिगोचर होता है।...प्रकाश पूर्व से आता है, किन्तु इसमें तथा उस काल्पनिक प्रभात में जो अभी आने वाला है पर आया नहीं है, अन्तर स्पष्ट करने के लिए हमें ज्ञान की निरन्तर खोज में अनेक वर्षों तक प्रवृत्त होना पड़ेगा। अब तक विद्वानों ने भारत की प्राचीन भाषाओं तथा विचारधाराओं का ही अध्ययन किया है और उसी में आधुनिक भारत का भी रूप देखा है किन्तु आधुनिक भारत का वास्तविक ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता जब तक हम पश्चिमी ज्ञान के प्रकाश में यहाँ की बत्तीस करोड़ जनता की आशा, भय तथा विश्वास का अध्ययन न करें।"<sup>5</sup> बहरहाल... मूल विषय यह विचार करना है इसके पीछे का निहितार्थ और मंतव्य क्या था। स्वयं नामवर सिंह ने ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर विचार करते हुए बताया है कि उन्होंने इस रहस्यवाद के राजनीतिक पक्ष को, राजनीतिक उपयोग को पहचाना था, जो दूसरे लोग नहीं पहचान सके थे। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आध्यात्म-सम्बन्धी आलोचना और रहस्यवाद-सम्बन्धी आलोचना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि उसमें इस आध्यात्मवाद और रहस्यवाद में निहित उस साम्राज्यवादी षड्यन्त्र, उस साम्राज्यवादी दर्शन का उद्घाटन करने की कोशिश की गई है। उसे पहचान कर उन्होंने बताया है कि किस प्रकार यह हम लोगों को निरन्तर गुलाम बनाए रखने का, राजनीतिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से और यही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से गुलाम बनाए रखने का एक प्रयास है।

इतिहासकार जार्ज बियर्स ने भारतीय इतिहास परिषद के चौबीसवें अधिवेशन के अवसर पर छपे प्रोसिडिंग्स में अपने आलेख 'द कल्चर ऑफ़ एंटीथ सेंचुरी इण्डिया : ए रिअप्रेजल' में बताया है कि कुछ वर्गों ने अपने निहित

स्वार्थ के कारण अठारहवीं शताब्दी के भारत को जानबूझकर अंधकारमय रूप में चित्रित किया। उपयोगितावाद के सिद्धांत में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों ने ऐसा इसलिए किया ताकि वे पूर्ण परिवर्तन और सुधारों के लिए अपने मतानुसार सिद्धांतों का प्रतिपादन कर सकें। पादरियों ने विश्व के इस हिस्से में अपनी धर्म-प्रचार सम्बन्धी गतिविधियों को उचित ठहराने के लिए किया तथा आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने स्वतन्त्रता और एकता के आन्दोलन से अनुप्रेरित होकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अठारहवीं शताब्दी की ऐसी ही दुर्व्यवस्था के कारण भारत ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी थी।

स्पष्ट है कि "औपनिवेशिक सत्ता ने अपनी जरूरतों के कारण और ओरिएंटलिस्ट विद्वानों ने अपने संस्कारों के कारण माना और मनवाया कि उनके श्रीचरण पड़ने के ऐन पहले का भारतीय समाज अपनी बौद्धिक चमक कब की पीछे छोड़ आया था। देशभाषाएं तो भोले-भाले, गंवारों की ही भाषाएं थीं। बौद्धिक रूप से, जो कुछ काम का था...वह या तो संस्कृत में था, या फिर फारसी में। स्वर्ण-युग कब का बीत चुका था और 'मध्यकाल' क्या साहित्य में, क्या चिन्तन में बस अनुवाद और अनुगमन करने लायक ही रह गया था। और ऐसे जबदे हुए काल का 'इमीडिएट सक्सेसर' होने के नाते 18वीं-19वीं सदी के भारत के भाग्य में यही बदा था कि अब वह अपने आप को पहचानने तक के लिए 18वीं-19वीं सदी में यूरोप द्वारा रचे जा रहे 'ज्ञान' और 'भारतविद्या' का अनुगमन करे।"<sup>6</sup>

#### संदर्भ:

1. प्राच्यवाद और प्राच्य-भारत, विनोद शाही, आधार प्रकाशन, 2007, पृ. 104
2. आलोचक के मुख से, नामवर सिंह, राजकमल, पृ. 61
3. वही, पृ. 62
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 400
5. भारत भाषा का सर्वेक्षण, ग्रियर्सन, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, पृ. 380
6. अकथ कहानी प्रेम की, पुरुषोत्तम अग्रवाल, पृ. 34

संपर्क : 09435370523

## उत्तर संस्कृति का आजादीकृत दृश्य-प्रपंच और भाषा-संप्रेषण

प्रो. अवधेश नारायण मिश्र (आचार्य)

एवं राजीव रंजन प्रसाद (अनुसंधित्सु)

हिन्दी विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति का संचरणशील संवृत्ति (कम्यूनिस्टिक फेनॉमिनन) विश्व-मानव की अवधारणा से संपृक्त है। सांस्कृतिक चेतना का यह उत्स ही प्रत्येक भारतीय को समकालीन विद्रूपताओं, विडम्बनाओं, संत्रासपूर्ण जीवन, भाषिक संक्रमण, वैचारिक बेकली, लोकतांत्रिक मूल्यों के हनन सम्बन्धी क्षोभ-कुण्ठा व आक्रोश आदि से निपटने की त्वरा, बल, ऊर्जा और शक्ति प्रदान करता है। तत्सम्बन्धी संभाव्य चेतना का प्रकटीकरण बहुविध माध्यमों से होता है; प्रत्यक्षतः या फिर परोक्षतः। अपसंस्कृति के आरोपण अथवा बाह्य आक्रमणों से निपटने में जिन मुक्तिकामी शक्तियों के संयोजन की आवश्यकता पड़ती है; उनमें सांस्कृतिक चेतना अग्रणी है। समकालीन संदर्भों में वैश्वीकरण का अपनी प्रकृति, आचरण और व्यवहार में लोकोन्मुखता और सामाजिकता से दूरस्थ होना एक कटु सच्चाई है। आधिपत्य और अधिग्रहण की शर्त पर यह जिन प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता है, वे समरूपीकरण की संस्कृति को थोपने के अतिरिक्त व्यक्ति या कि समाज-विशेष की भाषा, शिक्षा, संस्कृति एवं साहित्य को भी अपने प्रभुत्ववादी वर्चस्व के घेरे में खींच लेते हैं। लोकतांत्रिक-मूल्यों के हरण का यह प्रपंच प्रायः नई आर्थिक नीति, मुक्त सूचना प्रवाह और उदारशील पूँजी-निवेश के गणवेश में रचा-बुना जाता है।

वैश्वीकरण जिस सार्वभौमिक दुनिया को बनाता या फिर गढ़ता है, उसमें भाषा, शिक्षा, संस्कृति एवं साहित्य का जिक्र अथवा विवरण भले हों; लेकिन उसमें भाषिक-चेतना, जातीय-समृति, इतिहास-बोध, राष्ट्रीय अस्मिता और पारम्परिक-मूल्यों की सारतः या पूर्णतः अभिव्यक्ति का निषेध (गेटकीपिंग) जैसे प्राथमिक शर्त हों। नव उपनिवेशवाद और नव साम्राज्यवाद ने समकालीन चुनौतियों को और गाढ़ा किया है। समकालीनता का सीधा और स्पष्ट अर्थ अपने समय में समये वर्तमान जीवन और उसकी रूप-छटा को पूरी शिद्दत और शाइगस्ती के साथ सच्ची अभिव्यक्ति प्रदान करना है; ताकि इससे निर्मित दूरदर्शिता भविष्य के प्रति आस्थावान दृष्टि प्रदान कर सके। यहाँ अतीत और भविष्य के चित्रों की अपेक्षा वर्तमान छवि अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली होती है। वस्तुतः समकालीनता एक व्यापक धारणा बनकर सम्पूर्ण कालखण्ड को अपने भीतर समाहित रखती है। यह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों रूपों को एक साथ संस्पर्श करती है। साथ ही, समय-सापेक्षता के साथ मूल्य-सापेक्षता की भी माँग करती है। अतः किसी कालखण्ड-विशेष में प्रचलित और परिचालित मूल्यों की पूरी पहचान जरूरी है। यह इसलिए भी अपरिहार्य है, क्योंकि युगीन यथार्थ से साक्षात्कार तथा युगीन मूल्यों का बोध समकालीनता की सच्ची पहचान है और यह पहचान सदैव आधुनिक समय की उपज होती है जो कि अपनी स्वाभाविक चेष्टाओं से ऐतिहासिक गतिशीलता के अतिरिक्त समसामयिक चुनौतियों को भी स्वीकार करती है। उत्तर संस्कृति एक ऐसी ही चुनौती है जो 'आक्टोपस' की भाँति पूरी दुनिया में फैल रही है। अभिसरण की यह प्रक्रिया अपनी

कायिकी में बेहद सूक्ष्म और संश्लिष्ट है। इसे समझने हेतु संचार की प्रविधियों और प्रारूपों को भली-भाँति जानना-समझना आवश्यक है। वस्तुतः संचार का मुख्य प्रकार्य मानवोचित अंतःप्रक्रिया को स्थापित करना है। यह स्थापना मूक, सांकेतिक, वाचिक या अवाचिक किसी भी रूप-प्रारूप में घटित हो सकती है। “संचार मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया है। सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम होने के कारण भाषा अपने व्यवहार में विषमरूपी (हेटरजीन्यस) होने के लिए बाध्य है क्योंकि उसमें भाषा प्रयोग के अनेक विकल्पन मिलते हैं। भाषा-विकल्पन सामाजिक अर्थ का प्रकाशक भी है और भाषा-विकास का प्रभावकारी उपकरण भी। वह न तो भाषिक क्षमता को दूषित करता है और न ही खंडित।”<sup>11</sup>

ऐसा इसलिए कि अनुभूतियों से उत्पन्न भावों को अभिव्यक्त करने के लिए ध्वनियों या भंगिमाओं की आवश्यकता होती है जिसे आज वाचिक एवं अवाचिक संज्ञापद के अन्तर्गत रखा जा रहा है। भंगिमाओं से नृत्य, नाट्य, चित्र आदि कलाओं का विकास हुआ जबकि ध्वनि से भाषा, वादन एवं गायन कलाओं का जन्म हुआ। आदिमानव को प्राकृतिक घटनाओं (वर्षा, तूफान, जल या वायु का प्रवाह), पशु-पक्षियों की बोली आदि को सुनकर हर्ष, भय, शांति, आदि की अनुभूति हुई। इन ध्वनियों की नकलकर मनुष्य ने बोलना, एक-दूसरे को पुकारना, भागना, स्नेह-क्रोध आदि की अभिव्यक्ति करना सदियों से सीखा। इन संकेतों की संख्या बढ़ने पर मनुष्य ने इसे व्यवस्थित रूप देने की सोची जिस आकांक्षा में लिपि का जन्म हुआ। एक ही अनुभूति के लिए अलग-अलग मानव-समूहों में अलग-अलग ध्वनि तथा संकेत बनने तथा आपस में सम्पर्क न होने से विविध भाषाओं और लिपियों का जन्म हुआ।

वास्तव में, “भाषा समाज सापेक्ष प्रतीक-व्यवस्था है और इस प्रतीक-व्यवस्था के मूल में ही सामाजिक तथ्य प्रकृति निहित रहते हैं। भाषा केवल विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं होती, वह अंशतः स्वयं में सम्प्रेष्य कथ्य भी है जो सामाजिक अस्मिता और द्वेष का कारण बनता है, सामाजिक पद के सूचक के रूप में काम करता है और अन्य सामाजिक वर्गों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों को व्यक्त करता है। भाषा को लेकर व्यक्ति जब ‘लगाव’ की वृत्ति से प्रेरित होता है तब भाषा-अनुरक्षण (लैंगुएज मैटेनेंस)

की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होता है। इसके विपरीत ‘बिलगाव’ या अन्य सामाजिक दबाव से प्रेरित होकर व्यक्ति भाषा-परिवृत्ति (लैंगुएज शिफ्ट) की ओर अग्रसारित होता है।”<sup>12</sup> वस्तुतः माध्यम रूप में भाषा के जरिये लोग अपनी बातें एक-दूजे तक सम्प्रेषित करते हैं, विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तथा परस्पर समझ विकसित करते हैं। इसीलिए “भाषा को चेतना का प्रतीक कहा गया है जो स्वयं में अभिव्यक्ति और उसका साधन दोनों है।

बेन जॉन्सन ने बहुत पहले यह विचार व्यक्त किया था कि भाषा ही व्यक्ति को अधिकतम रूप में व्यक्त करती है। कोई भी दर्पण मनुष्य के रूप और साम्य को उतनी सत्यता के साथ व्यक्त या प्रतिबिम्बित नहीं करता, जितनी सत्यता के साथ भाषा करती है।”<sup>13</sup> चिन्तन-प्रक्रिया से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण भाषा चिन्तन के परिणामों और ज्ञानात्मक सक्रियता की उपलब्धियों को एकत्र करती है, उन्हें शाब्दिक आधार प्रदान करती है, शब्दों को वाक्यों में पिरोती है। साथ ही, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों को अभिव्यक्ति की गरिमा प्रदान करती है। ध्यातव्य है कि भाषा में ध्वनि-संकेत या प्रतीक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न ध्वनियों को संकेत के रूप में प्रयुक्त कर इसे भाषा का रूप दिया जाता है। इसके महत्त्व का अनुमान इसी से हो जाता है कि मनुष्य की श्वसन-प्रक्रिया जिसमें प्रश्वास और निःश्वास का नैरंतर्य सदैव बना रहता है, में समान्यतया निःश्वास ही भाषा एवं ध्वनि का प्राण है। मानव की समस्त बौद्धिक उपलब्धियाँ एवं ज्ञान-मीमांसाएँ इसी विशिष्टता का परिणाम है। मनोभाषाविज्ञानियों ने उच्चरित ध्वनि को संकेतमूलक क्षोभ माना है जिनका संकेतों से अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है।

शब्द संकेतों का संकेत है। सामान्यीकरण की प्रवृत्ति के साथ यह वक्तव्य उच्चरित ध्वनियों का स्थान लेते हुए वे क्रियाएँ करवा सकता है जो पहली संकेत-प्रणाली के संकेतों द्वारा संपन्न होती थीं। लेनिन ने जैसे कल्पना को चिन्तन कहा है, वैसे ही शब्दों को भी क्रिया माना है। यह चिन्तन बिम्बों के माध्यम से प्रकट होता है। उच्चरित शब्दों के माध्यम से जो दृष्टिकोण निरूपित होता है, उसे भाषा-व्यवहार में शाब्दिक-निरूपण (वर्बल सजेशन) कहा गया है। शाब्दिक-निरूपण की इस प्रक्रिया

को समाज भाषाविज्ञान सम्प्रेषण-व्यवस्था का एक अन्यतम साधन मानता है जिसमें “भाषा, वक्ता (मैं) और श्रोता (तुम) के बीच की संवाद-स्थिति का परिणाम है। एक ही व्यक्ति कभी वक्ता और कभी श्रोता दोनों की भूमिका का निर्वाह करता है। अतः भाषा का मूलाधार संवाद माना जा सकता है। संवाद के मूल में ‘मैं-वस्तु’ के स्थान पर ‘मैं-तुम’ की स्थिति हमेशा बनी रहती है जिसमें ‘वस्तु-वह’ तो संकेतार्थ का कारण बनता है और ‘मैं-तुम’ संवाद निर्वाह का।”<sup>14</sup> उसके लिए “भाषा एक इकाई तो है पर उसके अध्ययन का सन्दर्भ होने के कारण वह इकाई अपने में सम्पूर्ण नहीं, अपितु ‘भाषायी समाज’ के अपने ‘भाषायी कोश’ को वह मात्र एक अंग है (गम्पर्ज, 1968)। वह यह मानता है कि मनुष्य केवल ‘बोलनेवाला पशु’ न होकर ‘बातचीत करनेवाला’ प्राणी है (शेगालाफ, 1968)। यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वाक्य व्याकरण की सार्थक इकाई है, उसी प्रकार ‘शाब्दिक घटना’ सम्प्रेषण-व्यवस्था की एक सार्थक इकाई है (फिशमैन, 1965 हाइम्स, 1974)।<sup>15</sup> व्यक्ति ‘शाब्दिक घटना’ के सहारे विविध-रंगी संसार का ठीक वैसे ही निर्माण करता है जैसे कोई कलाकार अपनी तूलिका के रंगों से चित्रों का। भाषा-व्यवहार के स्तर पर व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में बनने वाले इस चित्रांकन को मनोभाषाविज्ञानियों ने बखूबी समझा है।

अर्वाचीन मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य का अन्तर्मन बाह्यमन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, वह ‘आइसबर्ग’ की तरह है। पारिभाषिक अर्थों में मनोभाषिकी का तात्पर्य शब्द और अर्थ के सम्बन्धों के आधार पर मानव व्यवहार का समेकित अध्ययन है जिसमें अवाचिक और वाचिक प्रतिक्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। मनोभाषिकी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि समस्त वाक्-व्यवहार मनुष्य की सतत ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाओं का ही परिणाम है। सामान्य जीवन में प्रयुक्त “भाषा-व्यवहार वस्तुतः भाषा-व्यवस्था का व्यक्त रूप है। अपने व्यक्त रूप में वह मानव सम्बन्धों की तरह बहुरूपी और व्यक्तिगत आवश्यकताओं की तरह वैविध्यपूर्ण और विषमरूपी होता है। वैयक्तिक सम्बन्धों से जुड़े होने के कारण वह सम्प्रेषण की उस प्रक्रिया से सम्बद्ध होता है जो व्यक्ति के अपने सन्दर्भ, वक्ता और श्रोता की भूमिका, देश और काल के परिस्थितिगत दबाव

द्वारा प्रभावित रहता है। यही कारण है कि भाषा-व्यवहार अपनी मूल प्रकृति में नवप्रवर्तनकारी होता है।”<sup>16</sup>

प्रसिद्ध रूसी भाषा-चिन्तक सुमारोकोव मानते हैं कि भाषाओं की रचना सिर्फ पढ़े-लिखे लोगों या सोचने-विचारने वाले लोगों द्वारा नहीं, बल्कि सभी लोगों के द्वारा की जाती है। इस तरह भाषा एक विशेष वस्तुपरक प्रणाली है जो मनुष्य के सामाजिक-ऐतिहासिक अनुभव अथवा सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। व्यक्ति द्वारा आत्मसात किए जाने पर भाषा एक तरह से उसकी वास्तविक चेतना बन जाती है। इस सम्बन्ध में मार्क्स का कथन द्रष्टव्य है- “भाषा सोच की तात्कालिक सच्चाई है।” वस्तुतः भाषा अपनी प्रकृति में मूलतः संकल्पनात्मक यथार्थ है। शब्द और भाषा की अन्य सार्थक इकाइयाँ दो प्रक्रियाओं का परिणाम कही जा सकती हैं- संकल्पना निर्माण-प्रक्रिया और नामकरण-प्रक्रिया। वस्तुबोध के सन्दर्भ में ये सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी कि भौतिक वस्तुओं की जातीय मानसिक संकल्पना। इन मूल्यों के साथ भाषा के प्रयोक्ताओं का सम्बन्ध मात्र बौद्धिक नहीं होता; बल्कि वे रागात्मक स्तर पर भी उससे जुड़े होते हैं। इसीलिए भाषाविज्ञानी फर्दिनेंड द सस्यूर ने भाषा-व्यवस्था को मूल्यपरक व्यवस्था माना है। उनका तर्क था कि, “भाषा के शुद्ध रूप में केवल ‘मूल्य’ होते हैं जो भाषिक प्रतीकों के भौतिक उत्पादन या लक्षण द्वारा नियंत्रित नहीं किए जा सकते। जिस प्रकार शतरंज का खेल मोहरों के भौतिक लक्षणों के आधार पर नहीं खेला जाता, वरन् उसका खेल उस मूल्य के आधार पर खेला जाता है जो विभिन्न मोहरों को खेल के विधान द्वारा मिला हुआ है। भाषा-व्यवस्था की प्रकृति को भी शतरंज के खेल के सादृश्य पर समझा जा सकता है; क्योंकि किसी भाषा की किसी ध्वनि (यथा- क,ख) अथवा उसके रंगनाम (यथा- नीला, लाल) की अपनी सार्थकता उसके भौतिक उपादानों में नहीं होती, वह तो उस मूल्य में होती है जिसे भाषा की अपनी व्यवस्था या विधान उसे प्रदान करता है।”<sup>17</sup> अतः सस्यूर के लिए शब्द द्विपक्षीय चिह्न है जिसे वह संकेतक और संकेतित कहता है जबकि बाख्तिन के अनुसार शब्द द्विपक्षीय क्रिया-व्यापार है जिसके अर्थनिर्धारण में वक्ता और श्रोता दोनों बराबर के हिस्सेदार हैं। इस प्रक्रिया को



प्रत्यक्षीकरण की अवधारणा के माध्यम से सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है। इसी चिन्तन-क्रम में बाख्तिन यह भी कहता है कि, “जीवन्त वार्तालाप में बोला गया प्रत्येक शब्द भावी उत्तर से सीधे संचालित होता है। यह उत्तर के लिए उकसाता है, उत्तर का अनुमान लगाता है और उत्तर की संभावना के मद्देनजर अपना गठन भी करता है।”<sup>8</sup>

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि बहुत से व्यक्ति अभिव्यक्ति के स्तर पर बोलते अधिक और कहते कम हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति कहते अधिक पर बोलते कम हैं। दरअसल, भाषा जितने व्यापक रूप में बाह्यजगत से जुड़ी होगी, वह उतनी ही भावसमृद्ध होगी और उतनी ही गतिशील क्योंकि मनुष्य का जीवन संवादधर्मी होता है। वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह की दृष्टि में, “भाषा का स्वधर्म ही संवाद है। जब हम किसी और से बातचीत कर रहे होते हैं, तो अपने अन्दर भी कहीं न कहीं बातचीत का एक सिलसिला चलता रहता है।”<sup>9</sup> भाषा की प्रकृति अनुक्षण परिवर्तनशील होने के साथ ही गत्यात्मक होती है। भाषा की इस विलक्षणता के सम्बन्ध में भाषाविद् हेमचन्द्र पाँडे की मानें, तो “सम्प्रेषण की विषयवस्तु तथा विचारों को किसी भी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। मानवीय भाषा किसी भी सम्प्रेष्य विषयवस्तु तथा विचारों को अभिव्यक्त करने में सक्षम होती है। नए विचारों की वाहक भी भाषा ही होती है। वस्तुतः मनुष्य द्वारा बोला या लिखा जाने वाला प्रत्येक वाक्य नया वाक्य होता है। सम्प्रेषण के समय मनुष्य हर बार नए वाक्य का निर्माण करता है।”<sup>10</sup>

इस तरह हम देख सकते हैं कि मनुष्य का चेतस मन तेजी से बाहरी-भीतरी दुनिया के बीच तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। वस्तुतः भाषा मनुष्य की संवेदना और उसके चैतन्य के बीच का सेतु है। किसी समाज की निजी शक्ति की परख उसकी भाषाई क्षमता और संस्कृति से होती है। मनुष्य विश्व के क्रियाकलापों को आत्मसात कर अपनी चिन्तनशक्ति से जीवन के जिन रचनापरक औदात्य को समाज के लिए मानक रूप में प्रस्तुत करता है, वे ही धीरे-धीरे संकलित होकर उसकी संस्कृति का सृजन करते हैं। संस्कृति वास्तव में लोगों के अर्जित आचार-विचारों की ही एक व्यवस्था है। इन्हीं आचार-विचारों को सुरक्षित रखने तथा प्रकट करने का काम भाषा करती है। प्रकटीकरण

की यह प्रक्रिया सभी मनुष्यों में समानधर्मा हो, यह कदापि जरूरी नहीं है। “मनुष्य के विचारों का वैविध्य और उसके अनुभवों के अनेकानेक छवियाँ भी भाषा की संरचना तथा उसे जानने के विस्तार को प्रभावित करते हैं। भाषा किसी एक विषय, भाव अथवा विचार तक सीमित नहीं होती। उसका सम्प्रेषण-तंत्र असीमित और सामाजिक संरचना की भाँति वैविध्यपूर्ण होता है। इसीलिए सम्प्रेषण के एकमात्र और व्यापक साधन के रूप में भाषा किसी ‘सन्देश’ को एक बने-बनाए या निर्धारित साँचे में बाँधकर प्रस्तुत करने का यत्न नहीं करती, वह एक ही संदेश को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त करने वाली प्रणाली को अपनाती है। वह अपने प्रयोक्ता में वह योग्यता पैदा करती है कि वह नए से नए शब्दों, पदबंधों और वाक्यों को अपनी जरूरत के मुताबिक समझ और जरूरत पड़ने पर रच भी सके। वास्तव में मानव भाषा अनंत सीमाओं तक सर्जनात्मक होती है— नव्यता के नए-नए संरचनात्मक संयोगों की वह ईजाद करती रहती है क्योंकि उसे नये अनुभवों, नई परिस्थितियों तथा नवीन विचारों के अनुरूप अपने को ढालना पड़ता है। इस प्रकार भाषा, निरन्तर विकास की प्रक्रिया का नाम है।”<sup>11</sup>

इस प्रकार “प्रतिवर्त की क्रिया में मनुष्य का परिवेश विषयक ज्ञान तथा धारणाएँ, अर्थात् व्यक्ति का समस्त अनुभव भी सम्मिलित रहता है। वस्तुतः मानसिक परिघटना बाह्य और आन्तरिक दोनों का मस्तिष्क द्वारा प्रदत्त उत्तर यानी मस्तिष्क की प्रतिक्रिया है।”<sup>12</sup> भारतीय चिन्तन के अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क समस्त इन्द्रियों का केन्द्रक है जिसमें सर्वत्र संज्ञान-बिन्दु फैले हुए हैं। मस्तिष्क ही संकल्पों का स्थान है। इस “संकल्प की एक वैदिक संज्ञा ऋतु है। मनुष्य ऋतुमय प्राणी है, जिसका सम्बन्ध कर्म से है। कर्म के द्वारा ऋतु या संकल्प की पूर्ति होती है।”<sup>13</sup> इन्हीं दोनों के बीच में मनुष्य-जीवन है जिसके लिए ‘शब्द ही ब्रह्म है’। प्रकृति ने शरीर की ऐसी रचना की है कि उसमें मस्तिष्क ही विचार कर सकता है। मस्तिष्क के नीचे जो भाग है, उसमें संकल्प-विकल्प की शक्ति नहीं है। यही नहीं, भारतीय तत्त्ववाद के अनुसार हम शरीर, मन और भाषा-तीनों से ही अपने व्यवहारों का सम्पादन करते हैं। इस सम्पादन-प्रक्रिया के अन्तर्गत भाषा के चार स्तरीय पदसोपान वर्णित हैं— परा, पश्यन्ती, मध्यमा

और वैखरी। 'परा' अनाहत है, भाषातीत है। 'पश्यन्ती' भाषा का मूर्त रूप है। 'मध्यमा' स्फोट की स्थिति का द्योतक है जिस अवस्था में मनुष्य बुद्धिमान और विवेकवान होता है। अन्तिम रूप है वैखरी, जो अनाहत नहीं है। मनुष्य जो बोलता है या जो वाणी से निकलकर बिखर जाता है वही वैखरी का वास्तविक रूप है। वस्तुतः "भारतीय वैयाकरण किसी पदबंध और वाक्य को ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण प्रबन्ध या उक्ति-प्रवाह को भी 'शब्द' संज्ञा से अभिहित करते हैं। स्फोट, शब्द का मूल तत्त्व है और ध्वनि, शब्दगुण है। मानव के वाक् में ये दोनों तत्त्व विद्यमान होते हैं जबकि पशु-पक्षियों की वाणी में मात्र ध्वनि होती है, स्फोट का अभाव रहता है।"<sup>14</sup> भाषाविद् डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने सस्यूर द्वारा प्रस्तावित 'भाषा-व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' के द्विविभाजन को भारतीय परम्परा में प्रचलित भाषा की चार स्थितियों- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी से जोड़ कर देखा और यह निष्कर्ष दिया कि "सस्यूर द्वारा निरूपित 'भाषा-व्यवस्था' मध्यमा ठहरती है और 'भाषा-व्यवहार' वैखरी, जबकि भारतीय मनीषी दो कोटि और पहले गए- परा और पश्यन्ती तक।"<sup>15</sup> वजह यह भी है कि पाश्चात्य चिन्तन प्रायः मन तक की ही बात करता है जबकि भारतीय दर्शन मन, संकल्प, विकल्पयुक्त बुद्धि, चेतना और अहंकार सबकी बात करता है।

वास्तव में मनुष्य वाक् के जरिए, भाषा द्वारा होने वाले सम्प्रेषण सम्बन्धी किसी भी माँग की न तो अवमानना करती है और न ही उसकी आकांक्षाओं को धोखा देती है। इसीलिए भाषाविद् यह मानते हैं कि अपनी आन्तरिक प्रकृति में कोई भी भाषा न तो 'अक्षम' या 'अपूर्ण' होती है और न ही अपने व्यवहार में 'अविकसित' या 'असांस्कृतिक'। 'अक्षम' या 'अविकसित' होते हैं प्रयोक्ता। विकास की अपनी शक्ति का स्रोत भाषा-प्रयोक्ता के प्रयोजन और प्रयोग के भीतर अन्तर्निहित होता है।"<sup>16</sup> संचार की शब्दावली में भाषा-प्रयोक्ता को संचारक (कम्यूनिकेटर) कहते हैं। संचारक तथ्यों, सूचनाओं और विचारों का एक अमूर्त खाका अपने मस्तिष्क में तैयार करता है। तदुपरांत अमुक संदेश को प्रापक तक पहुँचाने के लिए सम्बन्धित संचार-प्रक्रिया को व्यवस्थित ढंग से अंजाम देता है। इसके लिए वह माध्यम-योजना (मुद्रित माध्यम, श्रव्य माध्यम, दृश्य

माध्यम, प्रेस-कान्फ्रेन्स, रोड शो, सभा, प्रदर्शनी, नुक्कड़ नाटक, रैली, अनशन, जुलूस इत्यादि) बनाता है। संचारशास्त्री मार्शल मैकलुहान संचार-माध्यमों की महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं- "माध्यम ही संदेश है"। द्रष्टव्य है कि संदेशों के इस आदान-प्रदान में 'अनुभव-क्षेत्र' की भूमिका जबर्दस्त है जैसा कि मीडियाविद् स्क्रीम का मानना है कि समान अनुभव, समान भाषा, समान पृष्ठभूमि, समान संस्कृति के अभाव में किसी भी संदेश के सही या वास्तविक रूप में समझे जाने की संभावना बहुत कम होती है। यानी भारतीय लोकोक्ति 'खग जाने खग ही की भाषा' सच प्रतीत होती है।

नारीवादी चिन्तक जर्मन ग्रीयर ने पुरुष और स्त्री देह की तुलना करते हुए सिद्ध किया है कि दोनों के शरीर में बहुत अंतर नहीं है। दोनों में उत्तेजना और संवेदनशीलता समान होती है। वैसे यह भी एक सच्चाई है कि स्त्रियों में अपने भावों को प्रतिध्वनित कर सकने की प्रवीणता नैसर्गिक होती है। इस सम्बन्ध में स्त्री-विमर्शकार कवयित्री अनामिका इसके पीछे छिपे रहस्यों का जिक्र करती हुई कहती हैं, "भाषा का निर्माण अपनी मूल-भाषा और मूल-क्षेत्र में आवाजाही बनाए रखने में ही है। वह मूल भाषा ही उसकी गंगोत्री है। ऐन्द्रिक संवेदना के कपाट वहीं खुलते हैं और उसको भूल जाना खुद को भूल जाना है। इस क्रम में स्त्रियों का दोहन क्योंकि दोहरा होता है (विस्थापन का दुःख, यौन शोषण के नए सिलसिले एक साथ झेलने पड़ते हैं उन्हें), अपनी मूल भाषा से उनका लगाव भी दोहरा हो जाता है। यही कारण है कि अपनी सन्तति को क्षेत्रीय लोककथाएँ, लोरियाँ, पहेलियाँ और चुटकुले वे भरपूर सुनाती हैं। वैसे भी अतृप्त मनुष्य ही बोलना चाहता है, पर संरचनागत दबाव कुछ ऐसे होते हैं कि जो कहना चाहता है, साफ कह नहीं पाता और कई दरारें निकल आती हैं। शब्द और शब्द के अनन्तर जिसमें कई अर्थ-छवियाँ फँसी पड़ी होती हैं। स्त्रियाँ इस अतृप्ति का उपाय अधिक सर्जनात्मक और हँसमुख ढंग से कर लेती हैं। जिसे भी अधिक त्रास झेलने होते हैं, वह इसके विपरीत परिस्थिति में भी मस्त रहना सीख जाता है।"<sup>17</sup>

कवयित्री अनामिका के उपर्युक्त विचार भारतीय चिन्तन के अनुरूप ही हैं। भारतीय-संस्कृति का मूलाधार ही है—विरूद्धों का सामंजस्य किसी भी प्रकार के प्रतिकूलतम

परिस्थिति में स्वयं को विवेकानुरूप ढाल लेना। प्रकारान्तर से हम भारतीय जिस सामाजिक वटवृक्ष का हिस्सा थे उसमें बोलना सहअस्तित्व का चौखटा था, तो सुनना एक तरह से खुला वातायन। यही नहीं, मानवीय घ्राणशक्ति इतनी संवेदनशील और ताकतवर थी कि सामाजिक स्तरीकरण के राज्य-निर्मित किले भी प्रायः बौने नजर आते थे। पारस्परिक सामूहिकता और अन्योन्याश्रित निर्भरता के उजास में सामाजिक जीविकोपार्जन के कई साधन रूप और कला शिल्प प्रचलित थे। वैदिक ऋचाओं का प्रचार मौखिक संचार के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित हुआ। ऐसा सहज संभव हो सका, क्योंकि 'वैदिककालीन जीवन शक्तिमत्ता के आदर्श की उपासना करता था। शाक्वरी मंत्र यह कहते हैं कि हम जीवन में जितना कर सकते हैं, वही सबकुछ है केवल विचार जीवन के लिए पर्याप्त नहीं है। उन विचारों के अनुसार कर्म कर सकना सफलता की कसौटी है। विचारों से कतराकर निकल जाने वाले उनसे कभी उच्छ्रय नहीं हो सकते। विचारों के साथ न्याय करने वाले ही उनके साथ न्याय कर सकते हैं, इस प्रकार का दृष्टिकोण वैदिक दर्शन के बहुत निकट है।'<sup>18</sup> इस दर्शन के निर्माता सच्चे अर्थों में हमारी संस्कृति के साक्षी ऋषि थे- 'ऋषियो मंत्रद्रष्टारः' जिन्हें वैदिक भाषा में 'पथित' कहा गया। ये 'पथित' समाज-संस्कृति के सच्चे मार्गदर्शक थे जिनके अनुयायी बने अधिसंख्य पुरुष श्रमिक, कारीगर, कलाकार या योद्धा थे, तो स्त्रियाँ सहधर्मिणी के साथ-साथ सहयोगिनी भी थीं। तब स्त्रियाँ सर्वत्र बंधनों से नहीं घिरी थीं। लोकपरम्परा, लोककला, लोकगीत और लोकनृत्य में उनकी भागीदारी प्रायः बढ़-चढ़कर होती थीं। करमा, कजरी, चैती, सोहर इत्यादि के उनके कर्णप्रिय बोल मन-माधुर्य के परिचायक थे। नाच, नौटंकी और रामलीला में भले ही स्त्री पात्र की भूमिका प्रायः पुरुष ही मंचित करते थे, किन्तु देखने वे सभी आती थीं। खुलकर हँसती, इठलाती और आपसी हँसी-ठठा एवं विनोदप्रिय बरताव से विभोर हो जाया करती थीं। किन्तु, आज का समाज वही नहीं रहा अब वह किसी खास प्रकरण अथवा महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर भी अपनी राय नहीं व्यक्त करता है और अधिकांशतः चुप रहने का रवैया अपनाता है। यह जानते हुए भी कि- "चुप्पी सबसे बड़ा

खतरा है, जिन्दा आदमी के लिए।"

निःसंदेह सामाजिक अंतःक्रिया स्वाभाविक रूप से घटित होने वाला कार्यकलाप है जिसमें एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ या फिर एक समूह का अन्य समूह के साथ पारस्परिक प्रत्यक्षीकरण होता है। चूँकि संचार सदैव द्विमार्गी होता है; अतः संचारक का व्यक्तित्व सदैव अहम भूमिका निभाता है। दरअसल, क्या बोला जा रहा है यह तो महत्त्वपूर्ण है ही उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि बोल कौन रहा है और किस प्रकार बोल रहा है? इसके लिए वक्तृ-शास्त्र का भी विधान है जिसमें इस बात का विवेचन होता है कि दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए किस प्रकार की वक्तृता होनी चाहिए। इस सैद्धान्तिकी से अवगत होना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि एक ही शब्द कई-कई अर्थ-छवियों के प्रकटीकरण में सक्षम होते हैं; किन्तु यह भी सत्य है कि उनके वाक्य-रूप और कथन-विन्यास में भारी अन्तर देखने को मिलता है। कई बार कहने के लहजे अथवा तारत्व में भेद पैदा होने से शब्दों में अर्थ-विभेद पैदा हो जाता है। जैसे नुक्ता के हेर-फेर से खुदा 'जुदा' हो जाता है, जलील अकारण 'जलील' हो जाता है और फिर गलत भी 'गलत' नहीं रहता है। भारतीय भाषा-व्यवहार और लोकपरम्परा में मुहावरा, लोकोक्ति अथवा कहावत इन अर्थों में भी प्रचलित है। ये मनोभाव के सूक्ष्म से सूक्ष्मतरंग अर्थच्छटाओं को अभिव्यक्त करते हैं जो प्रायः लक्षणा-व्यंजना के भाव से पूरित होते हैं। वस्तुतः ये सामाजिकता, परम्परा, संस्कार-बोध आदि के संवाहक होते हैं। प्राचीनतम भारत का मूलाधार कहा जाने वाला श्रममूलक समाज जो अपनी प्रकृति और कार्य-पद्धति में मूलतः कृषक समाज था; के भीतर चेतना का उत्स, अनुभव का कोष और ज्ञान का अभिलेख इन्हीं शब्द बिम्बों, प्रतीकों और मिथकों में अक्षुण्ण है। यहाँ यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि मानवीय श्रम से भाषा पूर्णतः अविभाज्य है। यद्यपि मानसिक क्रिया अनुभूतिजन्य और शारीरिक क्रिया व्यवहारजन्य होती है; तथापि संचार-प्रक्रिया में ये दोनों क्रियाएँ समन्वित ढंग से अन्तर्भूत रहती हैं जिनमें विभेद कर पाना लगभग असंभव है।

भारत जैसे बहुभाषी एवं बहु-संस्कृति वाले देश

में जहाँ कई प्रकार की असमानताएँ एवं विविधताएँ हैं, वहाँ संचार-विधान सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण और संवर्धन का ही अंग बनकर सफल हो सकता है। “भारतवर्ष में बहुभाषिकता किसी समस्या के रूप में नहीं रही। यहाँ की संचार-व्यवस्था समाज की अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप जिस प्रकृति में ढलती गई, उसमें बहुभाषिक स्थिति एक सहज और प्राकृतिक लक्षण के रूप में उभरी। यही कारण है कि न केवल भारतवर्ष एक देश है, वरन् हर भाषावार प्रदेश एक बहुभाषी प्रदेश है।”<sup>19</sup> यहाँ इसे स्मरण रखना होगा कि संस्कृति यदि चित्तभूमि की खेती है, तो भाषा उसकी बालियाँ। प्रत्येक संस्कृति का सारतत्त्व उसकी भाषा में अभिव्यक्त होता है। भाषा के बिना संस्कृति पंगु है और संस्कृति के बिना भाषा अंधी। भाषा अपनी इस भूमिका में संस्कृति से किस प्रकार का सम्बन्ध रखती है; यह अहम प्रश्न है। किसी भी सामाजिक-व्यवस्था में मूलाधार और अधिरचना के सम्बन्ध को समझे बिना किसी भी व्यवस्था के नवनिर्माण का अर्थ नहीं समझा जा सकता है- सन्दर्भित व्यवस्था चाहे सामंतवादी हो, समाजवादी हो या फिर वर्तमान में चालित पूँजीवादी व्यवस्था। लेकिन, भाषा के सन्दर्भ में उपर्युक्त सिद्धांत लागू नहीं होता; क्योंकि भाषा की प्रकृति वैसी ही नहीं होती जैसी अधिरचना की। यह सच है कि मूलाधार में परिवर्तन से भाषा के व्याकरण और बुनियादी रूप में कोई अन्तर नहीं आता। हाँ, भाषा में कुछ नए शब्द आ जाते हैं, अभिव्यक्ति का तौर-तरीका बदल जाता है। कुछ शब्द चलन से हट जाते हैं और कुछ का अर्थ बदल जाता है। यह बदलाव दूसरे कारणों से भी हो सकता है। कारण भाषा पूरे समाज की निर्मिति है। वह विशेष समाज-समूह के पक्ष में कुछ नहीं करती। लोगों के बीच परस्पर संपर्क के साधन के रूप में भाषा की भूमिका क्रियात्मक है। भाषा दूसरे वर्गों को क्षति पहुँचाकर किसी एक वर्ग की सेवा नहीं करती, बल्कि समान रूप से समाज के सभी वर्गों की एकसमान सेवा करती है। जैसा कि हम देख पाते हैं अधिरचना का एक निश्चित वर्ग-चरित्र होता है, जबकि भाषा वर्गों से परे है।

भाषा अपनी कार्यकारी भूमिका में मनुष्यमात्र के संपर्क-साधन के रूप में व्यवहृत होती है। इसके कारण वह परिवर्तन के प्रति संवेदनशील होती है और प्रत्येक स्तर

पर ग्रहणशीलता का परिचय देती है। भाषाएँ अतीत के लम्बे अन्तराल में विकसित होती हैं। इस लम्बे अन्तराल में गोत्र भाषाओं से जातीय भाषाएँ, जातीय भाषाओं से राष्ट्रीयताओं की भाषाएँ और फिर राष्ट्रभाषा तक अनुवर्ती विकास का क्रम चलता है। इस क्रम में प्रत्येक स्तर पर भाषा का स्वभाव समाज के हर सदस्य के साथ एक जैसा होता है। भाषा का प्रकार्य विचार-विनिमय को सम्भव बनाना है। भाषा एक आधार है जो समाज के साथ अस्तित्व में आती है और उसके नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाती है। यह समाज के निर्माण और विकास के साथ ही निर्मित और विकसित होती है; समाज से अलग कोई भाषा नहीं होती। इसलिए भाषा और उसके विकास के नियमों को तभी समझा जा सकता है जबकि इनका अध्ययन इनसे अवियोज्य रूप से जुड़े, समाज के इतिहास के साथ किया जाए, उस जनता के इतिहास के साथ किया जाए जिसकी वह भाषा है और इसकी निर्मात्री और धारक है। भाषा के माध्यम से समाज सृजनात्मक सक्रियता का लक्ष्य निश्चित कर पाता है। इसके बिना वह विघटित हो जाता है। अतः भाषा समाज के विकास और संघर्ष की वाहिका है। सापेक्ष परिवर्तन का सूचक है। इस परिवर्तन को निर्धारित-नियंत्रित करने वाले असंख्य कारक हैं जो मूलतः भौतिक और अभौतिक दुनिया के बीच साम्य-संतुलन स्थापित करते हैं। मनुष्य अपने जिज्ञासा, अनुभव, चिन्तन एवं दृष्टि द्वारा स्वयं की मूल प्रवृत्तियों एवं मनोव्यवहारों के सम्बन्ध में आम राय अथवा धारणा विकसित करता है। सामाजिक संस्कारों का परिष्कार कर नई परम्परा को जन्म देता है।

भाषा के सन्दर्भ में यह विचार सहधर्मिता का सर्वसमावेशी विचार है जिसे त्याज्य मानना एक तरह से स्वयं की सत्ता को नकारना है; लेकिन यह नकार भाव उत्तर संस्कृति के इस युग में उत्तरोत्तर दृढ़ होता जा रहा है। पश्चिमी संचारविद् आल्विन टॉफ्लर आज के सूचना-आधारित विकास को तीसरी लहर (थर्ड वेव) के रूप में परिभाषित करते हैं। लेकिन, इसके अंधानुकरण से भारतीय काल प्रवाह सम्बन्धी चिन्तन की स्वाभाविक गति किस तरह नष्ट हुई है, इस पर भी आज गहरे विचार-मन्थन की आवश्यकता है। वर्तमान परिदृश्य में वैज्ञानिकता मुखर हुई है, तो मनुष्यता मौन। विज्ञानसम्मत लोकवृत्ति का दायरा

तेजी से बढ़ा है जिसका प्रतिफलन आज का वैश्विक-समाज और विश्व संस्कृति है। यह सही है कि नए बने इस भूमण्डलीय विश्व ने कई ऐसी सामाजिक कुरीतियों एवं बर्बर प्रथाओं से मुक्ति पा ली है जिसके बारे में कल तक सोच पाना भी दूभर था। आधुनिक समाज का लोकतांत्रिकरण 'समानता', 'स्वतंत्रता' और 'विश्व-बंधुत्व' की वैचारिकी से ओत-प्रोत है जिसमें मानवता और मानवीय बरताव बीजरूप में अन्तर्भूत हैं। लेकिन इस बदलाव का सामाजिकरण कम, बाजारीकरण अधिक हुआ है। व्यक्ति सामाजिक-ऐतिहासिक प्राणी बाद में 'कमोडिटी' पहले हो गया है। बाजार में 'माल' की तरह बिकता हर व्यक्ति खरीददार हो, न हो; किन्तु इस प्रक्रिया का स्वाभाविक हिस्सेदार नहीं है।

अतएव, भारतीय समाज में शहर अतिशय सुविधासम्पन्न बन रहे हैं, तो गाँव प्रायः उपेक्षित। विकास का 'पैटर्न' गलत है, तो व्यवस्थागत ढाँचा ग्रामीण इलाकों से तालमेल बिठा सकने में बिल्कुल अक्षम है। पूँजीवादी प्रवृत्तियों की घुसपैठ प्राकृतिक खनिज-संसाधन से भरे-पूरे उन क्षेत्रों में लगातार जारी है जिन इलाकों में बसा जनजातीय समाज-समुदाय अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता का उत्सव मनाता है। इस समाज के लिए 'जल, जंगल और जमीन' होने का अर्थ ही है, उनके रक्षक देवताओं का जिन्दा होना जिन्होंने उसे कल्पवृक्ष की गोद में बसाया है। इनकी दृष्टि में इस कल्पवृक्ष की वरद शक्ति अमोघ है। भारतीय उपाख्यानों के अनुसार स्वर्ग और पृथ्वी के बीच ऐसा कोई भी दुर्लभ पदार्थ नहीं है जो कल्पवृक्ष के नीचे संकल्प-मात्र से हमें तत्काल न मिल जाए। यह आदिवासी समाज उन्हीं दुर्लभ पदार्थों और परम्परा का सच्चा वारिस है। आज राज्य-व्यवस्था ऐसे ही निर्लिप्त और निर्द्वंद्व मनुष्यों के खिलाफ सशस्त्र कार्रवाई करने का दुःसाहस कर रही है। जिनकी भाषा में हथियार उठाने का अर्थ है- अपनी कर्मभूमि की रक्षा के लिए खेत हो जाना। अतः इस समाज के आर्तनाद और पुकार को जब तक जनसाधारण की बोली-भाखा में शामिल नहीं किया जाता है, उनकी प्रतिरोध की संस्कृति में स्वयं की उपस्थिति को महसूसने का संकल्प नहीं लिया जाता है, तब तक सिर्फ विचारों के धरातल पर वाममार्गी या दक्षिणमार्गी होने का क्या अर्थ और क्या

औचित्य है, इस सम्बन्ध में भी गहन विचार-विमर्श किया जाना आवश्यक है।

मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए यह चिन्तन अभीष्ट है, क्योंकि संचार-क्रांति और सूचना-राजमार्ग को मानवीय उत्थान का सूचकांक मानना इस उत्तर संस्कृति का सम्मोहनास्त्र है। आज का शहरी समाज नवमाध्यमों के चंगुल में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। उनके लिए बोली-बात वाचिक-अवाचिक से ऊपर उठकर 'हाइपरबोलिक' या फिर 'वर्चुअल टॉक' में परिणत हो गई है। भारतीय समाज में अनपेक्षित बदलाव विगत वर्षों में तेजी से हुआ है। भाषा के स्तर पर "अमूमन व्यापार-वाणिज्य की सरल-सपाट होती है वाणिज्य, वणिक्वृत्ति और राजकाज की अधिकार प्रमत भाषा, शुष्क लेन-देन और ऊपरी सरोकारों की भाषा- 'शुष्को वृक्षः तिष्ठति अग्रे' वाली कामचलाऊ, चलन्त-फिरन्त भाषा, रेलवे-प्लेटफार्म-कचहरी बाजार-पंचायत-अस्पताल और दफ्तर की भाषा।"<sup>20</sup> कुल मिलाकर यहाँ संवाद पराधीन है। दैहिक चेष्टाएँ प्रायोजित या फिर बाजार नियंत्रित हैं। यहाँ आमंत्रण की अनपेक्षित मुद्राएँ हैं जो बोलती कम हैं, मन की कुत्सवृत्तियों को उधाड़ती अधिक हैं। संस्कृति की दुहाई देने वाले धर्मगुरुओं और पण्डितों (अपनी चारित्रिक निष्ठा की दुहाई देने वाले) की पतनशीलता का 'ग्राफ' क्या है; इसका खुलासा भारतीय टीआरपी-पोषी चैनल बीच-बीच में करते रहते हैं। स्वयं आज का जनमाध्यम भी जो भाषा बोल रहा है और जिस शब्दावली में बोल रहा है; वह रोचक कम, 'इरिटेटिंग' अधिक है। टेलीविजन धारावाहिकों में बोलने-चालने का ढब प्रायः द्विअर्थी और फूहड़ता से भरा-पूरा है। साथ ही, नन्हें-मुन्हें बच्चों में कार्टून चैनलों के प्रति बढ़ता लगाव एक अलग समस्या है। ये कार्टून बाजार के उत्पाद हैं जो मनोरंजन के बहाने बच्चों के स्वभाव को हठी, हिंस्र और हास्यापद बना रहे हैं। कार्टून-संस्कृति की यह नई तहजीब बच्चों के मस्तिष्क में भाषा-व्यवस्था और भाषा-व्यवहार सम्बन्धी जो 'पोर्टफोलियों' बना रही है, क्या उसकी तुलना भारतीय बालमन की इस धारणा से की जा सकती है कि "बालक अमृत का सेतु और अजर-प्राण का केतु है। बालक के मन में मृत्यु की कल्पना नहीं होती। बालक के चैतन्य में मृत्यु का अनुभव नहीं होता। प्राण और जीवन की

ऊर्जस्वी धारा बालक में बहती है। बालक का मन अमृत का ऐसा उत्स है जो कभी विषाक्त और विकृति नहीं होता। बालक की भाषा विश्वभाषा है। भाषाओं के भेद, मानवों को पृथक् करने वाली सीमाएँ बालक के विश्वचैतन्य को स्पर्श नहीं करतीं। नये शब्दों में कहें तो बालक के भीतर अनन्त संभावनाओं के बीज हैं।<sup>21</sup>

अतएव, आज के बोलते मनुष्य की संचार-रीति पर बहस-मुबाहिसे, विमर्श और कार्यशाला की सख्त जरूरत है। आज जरूरत है, भाषा की सैद्धान्तिकी बाँचने के बजाए चिन्तन के बहुआयामी विस्तार की, जिसमें विचार-प्रजनन के आगे के संकल्प सन्निहित हों। यह इन वजहों से भी जरूरी है कि भारतीय भाषाएँ हमारे अस्तित्व और अस्मिता के सवाल से जुड़ी हैं। भारतीय वाङ्मय में शास्त्रसम्मत वाग्मिता से विचलन बर्दाश्त है, किन्तु विरूपण हरगिज नहीं। इस विरूपण का निषेध इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि यह समाज में तेजी से अपसंस्कृति का मकड़जाल बुन रहा है। लोग हताश और कुंठित हैं। अवसाद-विषाद के ग्राफ उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं जिसका दुःखद अंत आत्महत्या के रूप में हमारे सामने है। कवि महमूद शाम के शब्दों में, “इन दिनों हम अपने अन्दर ‘मरे हुए किसी क्षण की लाश’ को ढो रहे हैं।”

यह भयावहता भूमंडलीकरण की देन है। वैश्वीकरण की आँधी में बाजार मुख्य सत्ता बनकर उभरा। उसने राजसत्ता को अपना पिछलगू बना लिया। इस मूलाधार ने जिस अधिरचना का निर्माण किया वह उत्तर (आधुनिक) संस्कृति के नाम से चिह्नित हुई। यह उत्तर-संस्कृति उपभोक्ता संस्कृति की अपर संज्ञा है। मनुष्य का मन माने, न माने पर सच यही है कि वह बाजार में खड़ा है। उसे बाजार में होने का भान नहीं है। वास्तव में, संस्कृति के पण्यीकरण की प्रक्रिया ही ऐसी है कि वह जान नहीं पाता कि कब बाजार में गया, कब उसका पुराना घर जल गया, कब उसने अपना घर फूँक दिया। वह सोच नहीं पाता कि उसका परिचालन एक बाह्य मस्तिष्क से संचालित है। यह संस्कृति रोज बन रही नयी दुनिया की संस्कृति है जिसमें वह प्रवाह का निरंतर अनुभव करता है। उसके सामने दृश्य आते हैं, जाते हैं। यह उत्तर-संस्कृति एक वास्तविकता भी है और छल भी। उसमें ये दोनों गुण साथ-साथ हैं। जैसे भौतिकी

में, क्वाण्टम एक ही क्षण में कण भी है और तरंग भी। अतः इस द्वंद्वात्मक समय में यह कल्पना करना भी संभव नहीं है कि यह वही मानवीय-समाज है जिसके हलक में यदि कभी मामूली चीख उभरती थी, तो उसकी चीत्कार दूर तलक सुनाई पड़ जाती थी।

अतः ऐसे सांस्कृतिक संकट के समय में हमें भाषा का अपना मोर्चा फतह नहीं होने देना है। मुकाबला, हिन्दी बनाम तमिल या हिन्दी बनाम उर्दू न होकर, भूमंडलीकरण बनाम भारतीय भाषाओं का है। उत्तर-संस्कृति की हाट में सभी भारतीय भाषाओं की नियति हिन्दी से भिन्न नहीं है। इन सबकों अब एक साथ जीना या एक साथ मरना है। जातीय पुनर्जागरण उन्हें फिर एक नया जीवन देगा, जातीय आत्मक्षय उन्हें फिर एक बार पृष्ठभूमि में फेंक देगा। कहा जा सकता है कि भाषा अधिरचना की भाँति भले न हो, पर उसकी चेतना अधिरचना से अछूती नहीं रह सकती। वस्तुतः “आज सर्वत्र विश्वमानव की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। प्रत्येक जाति और देश का लक्ष्य विश्व-बन्धुत्व की प्राप्ति है। उनका सीधा-सादा अर्थ यही है कि एक मानव में जो अधिकार और स्वार्थ की सत्ता है, वह दूर होनी चाहिए, विश्वमानव के साथ उसके मनोभावों का स्वच्छन्द मेल होना चाहिए।”<sup>22</sup> यह विचार महत्वपूर्ण है क्योंकि हम अपने इतिहास, संस्कृति, लोक, भाषा और राजनीति से दिन-ब-दिन कटते जा रहे हैं। संवादधर्मी योग्यता जो कि मनुष्यधर्मी चेतना का निर्माण-तंतु है; को विस्मृत कर रहे हैं। प्रख्यात कवि अज्ञेय इस भाषिक चेतना की गूँज अपनी निजभाषा में सुनते हैं और इस सन्दर्भ में अपनी मूल चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं “हिन्दी भारत की चेतना की भाषा है, वह समग्र संस्कृति की संवाहिका है।...प्राचीन काल में रचनाकर्म से जुड़े लोगों में एक शब्द उनके मन में समान भाव या विचार उत्पन्न करता था। आज लोगों की विचार संयोजनाओं में समानता नहीं है। अतः ऐसे शब्दों का अभाव हो गया है जो सब के मन में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न कर सकें।”<sup>23</sup>

विश्व के समस्त दर्शन संसार को ‘शब्दज’ मानते हैं। लेकिन, आज शब्दालोक के इस अभावग्रस्त संसार में भाषा-सर्जना के नियामक वही नहीं होंगे जो संचार सम्प्रेषण



के नव्यतम रूप में व्यवहृत हैं; प्रचलित हैं। और यदि यही हमारे लिए भाषाई-व्याकरण और भाषिक-संस्कार बन चुका है, तो इसे बदलना ही होगा। रूसी कथा लेखक बोरिस पोलीवाई के शब्दों में कहें, तो अमुक बदलाव इसलिए भी अपरिहार्य है, क्योंकि 'यह संसार-यात्रा थके हुए शब्दों से नहीं हो सकती।'।

#### सन्दर्भ :

1. श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ; हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र; राधाकृष्ण प्रकाशन; नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1996, पृ.सं. 17।
2. श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ; हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र; राधाकृष्ण प्रकाशन; नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1996, पृ. सं. 26।
3. शास्त्री, सूर्यदेव, मनोभाषाविज्ञान, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।
4. श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ; हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र; राधाकृष्ण प्रकाशन; नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1996, पृ. सं. 21।
5. वही, पृ. सं. 73।
6. वही, पृ. सं. 33।
7. वही, पृ. सं. 33।
8. अखिलेश, संपादक : तद्भव, अंक 24, अक्टूबर 2011 ई., लखनऊ पृ. सं. ।
9. शुक्ल, विद्याधर, संपादक : लेखन, अंक 10, जनवरी-जून 2011, इलाहाबाद, पृ. सं. 89।

10. पाँडे, हेमचन्द्र, भाषा :सवरूप और संरचना, ग्रंथलोक, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2006, पृ. सं. 31।
11. सिंह, प्रो. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण :2008, पृ. सं. 9।
12. अन्तर्जाल :
13. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कल्पवृक्ष, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, संस्करण : 2007, पृ. सं. 26।
14. सिंह, प्रो. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण :2008, पृ. सं. 63।
15. सिंह, प्रो. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण :2008, पृ. सं. 55।
16. श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ; हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र; राधाकृष्ण प्रकाशन; नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1996, पृ. सं. 195।
17. संधान, पृ. सं. 105।
18. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कल्पवृक्ष, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, संस्करण : 2007, पृ. सं. 90।
19. श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ; हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र; राधाकृष्ण प्रकाशन; नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1996, पृ. सं. 265।
20. संधान, पृ. सं. 104।
21. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कल्पवृक्ष, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, संस्करण : 2007, पृ. सं. 42।
22. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कल्पवृक्ष, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, संस्करण : 2007, पृ. सं. 37।
23. अज्ञेय, प्रयोग और प्रेषणीयता (निबन्ध संचयन); प्रकाशन : आत्माराम एण्ड सन्स, पृ. सं. 68।

#### संपर्क :

प्रो. अवधेश नारायण मिश्र : 09415991344

राजीव रंजन प्रसाद : 07376491068

## पुष्पावता आँचल

प्रो. विद्योत्तमा मिश्र

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

नसीबन का मन रह-रहकर बिलख रहा था, बेचैनी और दहशत के कारण उससे रहा नहीं जा रहा था, तीनों बच्चे साथ में ही थे। सोफिया मैकडोनाल्ड मैडम को हमने बचाने की कितनी कोशिश की, पर कामयाबी नहीं हासिल हुई। वो तो अपने पति की मौत की खबर सुनकर वहीं जाना चाहती थीं, पर हमी ने रोक लिया, वहीं जाकर मारी जाती तो उनके बच्चे की जिम्मेदारी उनके देशवाले ले लेते, मैं ही उन्हें वहाँ जाने से रोकती रही। क्रांति की हवा चलने पर मैंने ही उन्हें छिपाने के लिए हिन्दू कपड़े पहनाये, उनका सर चादर से ढँक दिया था, मैं कुछ बोल नहीं पायी। कहने पर तो सब यही बोलते जब फिरंगी हमारे निर्दोष लोगों को अधमरा करके बेदर्दी से मार रहे थे, तब तू क्यों नहीं बोली? तेरे ही सामने अपने देश को तबाह करने की योजना बनती थी उस समय तू, चुप क्यों रही? आज बोलने चली है। बात उसकी सही ही थी पर ऐसे गिरे लोगों से उसी ढंग से बदला लेना पड़ता है, वो अपनी जगह बिल्कुल गलत नहीं है, पर इस रास्ते में निरीह लोगों का अन्त होता है, यही दुःखद है। क्या किया जाये? अत्याचार का प्रतिशोध न लिया जाये तो ऐसे अत्याचारियों की हिम्मत बढ़ जाती है। खून के आँसू बहाती सिसकती इन्सानियत के आँसू पोछने वाला कौन है? सब अपनी राह में चलते हैं, हमारा देश सही है, पर अखर गई उनकी मौत, कैसे सबने कहा बोल जल्दी, इसमें कोई फिरंगी तो नहीं है? मैं चुप रही- चौकीदार का परिवार सहम गया, वो कितना मेरे ऊपर चिल्ला रहा था। तुम्हारे कारण ही हम इस विपत्ति में फँसे, बड़ी हमदर्द थी तो कहीं बिल में सबको छिपा लेती। उनकी चादर उलटकर सबने मार दिया- उस स्थान पर मैं भी होती तो वही करती। मुझे तो साथ रहने के कारण सबके प्रति ममता हो गयी थी, तीनों सर ढँककर सोये थे, वरना मार देते, नहीं हिन्दुस्तानी इतना नहीं गिर सकता वो तो कप्तान की पत्नी थी, कप्तान ने बड़े जुल्म ढाये थे इसीलिए मैडम को मारा गया- वे उन्हें मारकर तलवार लहराते चले गये। मैं उनकी लाश नहीं उठा सकी, उठाने से तो और झमेले में पड़ती, ऐसा करने पर तो हम सभी मारे जा सकते थे। कितनी गाली सब दे रहे थे, साले गद्दार कहीं के, पूरे देश को जिन्दा मारने वाले अत्याचारियों को छिपाकर ले जा रहे हो, हम लोगों पर इन लोगों ने कितने जुल्म ढाये, तब आप नहीं बोले, कोई छिपाने नहीं आया।

उन सबने सही ही कहा, पर हमारी आँख के सामने से वो क्षण हटता ही नहीं, वो तो जीवन भर के लिए मन में अमिट हो गया है।

नसीबन शहर की ओर अपने नए घर तक हम सकुशल पहुँच जायेंगे?

नहीं हम पहुँच जायेंगे।

तुमने तो हम सबको परेशानी में डाल ही दिया था। वो तो कहो बच्चे बच्चों में छिप गए, वरना वो भी मारे जाते, चौकीदार की पत्नी बोली-

बहन जी सहमने पर चुप्पी तो अपने आप ही चली आती है, उनके चिल्लाने से बच्चे जगकर भी चुप रहे। भाई साहब आप जल्दी चलिए- जिससे पहुँचने में देरी न हो, एक-एक पग घबराहट पैदा कर रहा है। वहाँ

पहुँचकर मैं बच्चों की रक्षा का इंतजाम कर दूँगी।

अपनी करनी का फल भोगें, चौकीदार ने खीझकर कहा—

इन बच्चों ने क्या किया था ? स्त्री बोली—

इनके पिता ने देशवालों ने तो किया है आदमी को माता, पिता, दादा, दादी ही नहीं ददिहाल, ननिहाल गाँव जिला प्रदेश देश की करनी का खामियाजा भुगतना ही पड़ता है। मानव की हरकतों का परिणाम जानवरों को भी प्रतिशोधी बना देता है और वो भी अपनी ज्वाला में प्रपीड़क के चिह्न वालों तक को लीलने लगता है, इसे मेट पाना मुश्किल है। इनके पिता देशी पलटन के कप्तान थे, उन्होंने मामूली अत्याचार नहीं किया, इनके देश वाले तो हिन्दुस्तान को जड़ से उखाड़ने पर जुट ही गये हैं।

मैं सब जानती हूँ और देख भी रही हूँ— बहन मैं मुसीबत की मारी मेम के पास आयी थी। मुझे अनाथ का कोई नहीं था, मेरे चाचा-चाची मुझे अरब देश में बेचना चाहते थे, मैं अपने आशिक पर विश्वास करके चली आयी, वो कुछ दिन तक तो ठीक था धीरे-धीरे वो भी मुझे मारने-पीटने लगा, बार-बार धिक्कारता तुम अपने घर की नहीं हुई तो मेरी क्या होगी ? दरअसल वो दूसरे चक्कर में था— पिटते-पिटते एक दिन ऊब कर मैं चल दी — संयोग ही था काम के तलाश में मैं मेम के पास पहुँच गयी। मुसीबत में मेम उस दिन कह रही थीं नसीबन तुमने मुझे मेरे हसबैण्ड के पास नहीं जाने दिया, ये अच्छा ही रहा, वरना मेरे बच्चों का क्या होता ? मैंने उन्हें चादर उड़ाई तो वे गदगद होकर कहने लगीं नसीबन तुम कितनी अच्छी हो ? इतनी रिस्क उठाने की ताकत सब में नहीं होती— मैं तुमसे उन्नत नहीं हो सकती, यहाँ से किसी तरह उबर जाऊँ तो सीधे अपने देश चली जाऊँगी, नसीबन मैं सेना के कप्तान की पत्नी, किसी से डरती नहीं, पर जाने क्यों मन रह-रहकर घबरा रहा है। बहन ऐसे ही कहते-कहते फिर मुझे लिपटकर रोने लगी। रो-रोकर कहती रही मुझे साथ ले चलने के कारण कहीं तुम्हें ही न सब मार दें, ऐसा होने पर मैं अपने को सबसे बड़ा अपराधी मानकर खुद को खतम कर दूँगी। नसीबन बोलते-बोलते रोने लगी।

बहन मैं उनकी भलमनसाहत को जानती हूँ— उनकी मौत मुझे रुला रही है मैं यह भी जानती हूँ कि हमारे देश की न जाने कितनी सोफिया की तरह औरतें अकारण ही मार दी गई जबकि उनके आदमियों ने कुछ भी नहीं किया था।

इसी अत्याचार का तो दण्ड दिया गया, पर मेम का मरना, मैं रो भी नहीं सकी— उनको रोक भी नहीं पायी— मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है, नसीबन रोने लगी। बहन मुझे ये हार— ये हार मेम दे गई— मुझसे कहा ले लो, तुम्हारी मुसीबत में काम आयेगा, उस क्षण घिरने पर वो बुत बनी बैठी रही— झटके से खींचकर उन्हें मार दिया गया, कैसी विवशता ? उस पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता। कुछ समझ में नहीं आता कि विधाता का कैसा विधान है, मैं तो थर-थर काँप रही थी— मन में यही आता कहीं हमको भी वे मार न दें— मेरे मरने पर तो तीनों बच्चे— उनका क्या होता ? अभी तो वे मेरे विश्वास के कारण निश्चित होंगी उनकी आत्मा इस विश्वास के कारण भटकेगी नहीं—

अभी कितनी दूर जाना है ?

अब दूर नहीं है, पर हम इस क्रांति के माहौल में रास्ता बदलकर चल रहे हैं, भीषण अत्याचार के विरोधियों में बदला लेने का जुनून सवार है, वे बच्चों पर वार नहीं करेंगे। जिनके बच्चों को फिरंगियों ने मार गिराया है, वे तो मौका पाकर उसी रूप में बदला भी ले सकते हैं, पर हिन्दुस्तानी प्रतिशोध में भी इतना नहीं गिर सकता, यह जानकर भी मैं संशंकित हूँ, मन रह-रह कर थरथराने लगता है। यही सोचकर हम आड़ा तिरछा चल रहे हैं देरी का यही कारण है। तुम लोग बोलना छोड़कर चुपचाप लेट जाओ।

नसीबन ने लेट कर बच्चों को चिपटा लिया, जिससे उन्हें सोते समय माता का अहसास होता रहे। मन पूछने लगा क्या जगने पर माता का अहसास करा पायेगी ? बस विश्वास भरा सहारा हमसे है। गाड़ी गँवई रास्ते से जाने के कारण हिचकोले खा रही थी, बड़ा वाला भुनभुनाने लगा मम्मा हम कहाँ जा रहे हैं ? नसीबन ने घबराकर सीने से लगा लिया और थपकियाँ देकर उसे सुलाने लगी— तीनों गहरी नींद में सो गये।

भाई जरा धीरे-धीरे गाड़ी चलाओ, हिचकोले खाने पर बच्चे जग जाते हैं।

क्या करें नसीबन ? बच्चों के कारण ही हम इस रास्ते से चल रहे हैं।

मैं समझ रही हूँ सोने भाई, पर संशंकित मन को चैन नहीं मिल रहा है।

हम दोनों आपकी मनःस्थिति समझ रहे हैं, आप धीरज

रखिये, सब भगवान अच्छा कर देंगे।

भगवान अच्छा कर देंगे, यही प्रतीक्षा तो कब से कर रही हूँ, आशा टूट चली है विश्वास भी डगमगाने लगा है, कैसे न टूटे आस वो बचपन से झेलती रही, पर उखड़ी नहीं, वो टूट-टूटकर जुड़ती रहती है। मैं उसी आशा के सहारे तो जिन्दा हूँ, वरना कब की मर गई होती- गाड़ी धीरे-धीरे चल रही है छोटा-सा सफर, प्राणघाती संकट के कारण कितना दूभर हो गया है। मेरी जिन्दगी का सफर भी तो ऐसा ही है। सोचती हूँ क्या मेरा जीवन? जो मुझे त्रस्त करता और झेलाता है, वो बुलन्दी पर चला जाता है। जो मुझसे स्नेह करता है, वह नष्ट हो जाता है। कितना दुःखी मेरा बचपन! माँ के चले जाने का मुझे कुछ भी याद नहीं है, पिता मुझे लिए-लिए ही आँसू बहाते, वो मेरे लिए गट्टा लेने गये थे वहीं रास्ते में गाड़ी की ठोकर खाकर मर गये, माता-पिता को खाने वाली अभागिनी मैं, सभी मेरी सूरत से नफरत करते, चाचा-चाची अपने बच्चे को पालने और घर की टहल करने के लिए मुझे ले आये। मैं अछूत अपशकुनी, पर मेरे काम में दोष नहीं था, वो तो उनकी मेहरबानी थी जो मुझसे वे काम ले रहे थे। मेरे रोने का क्या असर? पिता का गट्टा मैं बहुत दिन तक रखे रही, वो कपड़ा तो आज भी मेरे पास है, उसे देखकर आज भी दो आँसू बहा लेती हूँ। मेरे दुःखी हृदय को उस छली चाँद ने छुआ, मैं उसकी चालाकी समझ नहीं पायी, वो भी अपने बीमार बाप की सेवा के कारण प्रेम का नाटक करके ले आया। मैं उस कसौटी पर खरी उतरती गई, पर उसने भी अपनी मेहरबानी और बड़प्पन की तीखी आँच से मुझ अपशकुनी को तपाना शुरू कर दिया। मेरा अहं आहत होते-होते निजोर हो चला था- मारपीट की प्रतिक्रिया का अधिकार नीच अभागों को नहीं होता। वो दूसरी औरत ले आया, वो कमासुत जायदाद वाली, उसकी सेवा करना मेरा धर्म और अभागिन नीच से सेवा लेना उनकी मेहरबानी- उनकी सेवा करके धन्य होती रही, वे नुक्ताचीनी करके दोष दिखाते, उस सारी सेवा का मोल भी मिटाते रहते, बात-बात पर प्रताड़ना, प्रश्न करने का अधिकार कहाँ? अप्रत्यक्ष झेलाहट, दमघोटू धुआँ, प्रत्यक्षमार से भी बढ़कर हो जाता- मैं निकल भागी- अतिक्रमण का दण्डनीय अपराध - करेजा काँप उठा- समाज क्यों बोलता? मैं अपने मन से आयी थी, बहिष्कृत अभागी औरत कोई क्यों बोलेंगा?

क्यों कोई मेरी रक्षा के लिए खड़ा होगा? क्रान्ति की आग सुलग रही थी, बड़े अत्याचारों के विरोध की आँधी में मेरे प्रपीड़न की बात सुनने का किसे अवकाश? मैं किधर जाती? कोई मुझे क्यों सहारा देता? कौन मेरे आदमी और सौतन से बैर लेता? वो बड़ी जालिम- उसे मुझ-सी बिना दाम के दासी कहाँ मिलती? जो मुझसे दासीकर्म कराती और प्रतिफल में उसके ही अहसान तले दबना कि साँस लेना भी कठिन लगने लगता। काम की तलाश और उससे बचने के लिए मैं अंग्रेज अफसर के पास चली आयी। मन धिक्कार रहा था, देश को गुलाम बनाकर नष्ट करने वाले अंग्रेजों की सेवा - मुझे कोई मार देता तब भी पाप नहीं लगेगा। मैंने सोच लिया था कि कोई भी क्रांतिवीर दिखेगा तो मैं उससे कह दूँगी कि मैं देशद्रोही हूँ मुझे मौत दो मौत, मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है, जनम-जनम तक मुझे माफ नहीं करेगी। मेरे सिसकते ही सोफिया आ गई। कितने प्यार से बोली क्यों रो रही हो? आओ मेरे पास मैं भी दुःखी औरत हूँ, हिन्दुस्तानी औरत को तो बहुत ही कष्ट है। फिर औरत तो सहने के लिए बनी ही है। कुदरत ने सहने के लिए उसे ऐसी शारीरिक बनावट दे दी है। भूलते नहीं उनके शब्द, उनके संरक्षण में जारी सेवा को गुम करके खड़ी होने वाली शान भरी जकड़बन्दी धुआँ हो गयी- एक झटके से मिट गई, वो नियति, जो मुझे हर ठहराव पर आकर समझाती कि सबकी सेवा करना, बिना दाम की दासी बनना, तुझ जैसी अभागी अपशकुनी का धर्म है, कर्म नहीं। मेम ने पहली बार मेरे काम को मूल्य दिया- वो भी तो दुःखी नारी ही थीं तलाकशुदा नारी, इसके साथ आयीं, वो आदमी भी कितना अहंकारी और क्रूर था? इनकी कुछ भी नहीं सुनता था बेचारी अपना दर्द मुझसे कहकर हलकी हो जाती थीं। आदमी के अत्याचार से इतनी टूट चुकी थीं कि अब उनमें इतनी ताकत नहीं रह गयी थी कि तीन बच्चों को साथ लेकर कहीं जायें, या बच्चों की ममता तोड़कर ही चली जायें। उन्होंने हमसे रो-रोकर कहा- नसीबन माँ की ममता कैसे तोड़ूँ? अगर बच्चों को लेकर जाती हूँ तो ये दावा करेगा और दूसरा पता नहीं बच्चों को प्यार दे या न दे, बहन अगर उससे बच्चे हो जाते हैं, तो वो इनको अपने बच्चों के बराबर प्यार नहीं दे पाता है, उस समय के दर्द को कैसे सहा जा सकता है, औरत कैसे जिये? नसीबन हिन्दुस्तान में अपने देश का

कोई सज्जन आदमी नहीं मिल सकता। अपने देश में भी ऐसी दिक्कतें तो आती ही हैं, बच्चों की ममता में औरत को सहन करना ही करना है। उनके कहे एक-एक शब्द हृदय में लिख गये हैं, मैं किताब की तरह खोलकर पढ़ती रहती हूँ और दर्द की धार में डूब जाती हूँ।

बहन सो गई क्या ?

जवाब नहीं मिला—

गाड़ी चलते-चलते वो बोल पड़ा 'उसे सोने दो, सोने से जगाने पर वो रणचण्डी हो जाती है, वो तो कहो जागी नहीं, वरना तुम्हारी खोपड़ी नोच डालती। अपनी पत्नी के बारे में ऐसा कहकर वो ठठाकर हँस पड़ा और उसने गाड़ी की रफ्तार तेज कर दी।

नसीबन फिर सोच में डूब गई, क्या यही अपना भाग है ? अन्तर से कोई फटकारने लगा, नसीबन तू क्यों सोचती है ? तेरा नसीब यही है, इसी रंग से तेरी रेखा बनी है, तू सिर्फ चलती रह जो दिशा मिले उसी में चल, बोलने का उफ करने का, अधिकार तुझसे तेरे नसीब ने छीन लिया तो समाज क्यों पीछे रहेगा ? बेचारी दुःखी हृदय मेरी रक्षाकवच बन गई— विदेशी कप्तान की पत्नी के सेवा के कारण मेरी सौत बोल नहीं पायी, वरना वो अपने आदमी को लेकर मुझे दण्ड देने जरूर आती— वो मेरा आदमी अब कहाँ रहा, वो तो उसी का हो गया। उस माहौल में किसी भी हिन्दुस्तानी में इतना दम नहीं था जो उससे टक्कर लेकर मुझे पनाह देता। देश के दुश्मन का संरक्षण लेना मेरी मजबूरी थी— मैंने न तो अपने देश की खबर दी और न उनकी जासूसी ही की। जासूसी करने के लिए आत्मा प्रेरित करती, पर नमक हरामी कैसे कर सकती थी ? फिर जासूसी जैसा कुछ था भी नहीं, देशी सैनिकों का कप्तान जुल्म, अत्याचार और छल का केन्द्र, उसके जुल्म की हर योजना खुले रूप में ही अचानक प्रकट होती। तेरी मेम उसे बराबर समझातीं, पर वो सुनने वाला कहाँ था ? देशी सैनिक ज्यादा काम करते थे, उनकी सुविधा और पैसा बहुत कम है, उनके काम को कोई मूल्य नहीं, कदम-कदम पर उन्हें धिक्कारा जाता, प्राणघाती आग में उन्हें ही झोंक दिया जाता, वे इसीलिए बने थे, इतना गलत व्यवहार— बेचारों को चर्बी वाली कारसूत दाँत से खींचनी पड़ती, बात-बात पर उन्हें गालियाँ ही नहीं दी जाती, बल्कि नंगा करके कोड़ों से मारा भी जाता, मेरी मेम ने कितना समझाया

कितने दिन तक बहस होती रही, पर कप्तान साब ने कहा ऊपर से आर्डर मिला है। मेम ने तो चिल्ला-चिल्ला कर कहा अगर ऊपर से अत्याचार करने का ही आर्डर मिलता है तो यहाँ से चल दो, हमसे ये क्रूरता देखी नहीं जाती। तुम्हारे ही देश में अगर तुमसे ताकतवर दिमागदार कोई आकर ऐसा ही व्यवहार करे तो तुम पर क्या गुजरेगी ? अगर तुमको मजबूर किया जा रहा है तो बीमारी का बहाना बनाकर चल दो।

इसी बात पर खूब हंगामा हुआ, मेम साहब चुप नहीं हुई, कहती रहीं नहीं कि तुम ही चाहते हो, अगर न चाहते तो इतना अत्याचार न करते। अत्याचार करने की क्षमता तुममें है, यही जानकर ही तुम्हें कप्तान बनाया गया। कैपेसिटी के हिसाब से ही तो ड्यूटी मिलती है। इतना कहते ही कप्तान साहब मेम को पीटने लगे, उस दिन की मार के बाद मेम चुप हो गई चतुर और राजपाट के लोभी आदमी की चालें क्रूरता की सारी सीमाएँ लांघ जाती हैं।

इस लड़ाई, इस मनमुटाव से मेरा मन मेम के करीब और आता ही गया, मैं उनके सामने नतमस्तक होती गयी, कभी-कभी मेरे मन में उपजता कि अपने लोगों के अत्याचारियों के यहाँ मैं क्यों रह रही हूँ ? पर किधर जाऊँ ? कोई ठिकाना नहीं, यही वो घर था जिसके सामने मेरे अपने कहलाने वाले छली बोल नहीं सकते थे। अपने गाँव के किसी भी आदमी की इतनी हिम्मत नहीं थी, जो मुझे अपने घर में शरण देता। कहते हैं हिन्दुस्तानी औरत अपने आदमी को पूजती है, पर जैसे ही खबर आयी कि पैदल सेना के कप्तान डोनाल्ड मैकडोनाल्ड देशी सैनिक आवास में सैनिकों के हाथ मार डाला गया, मेरी मेम वहाँ जाना चाहती थी, पर मैंने ही रोक लिया, अत्याचारी की पत्नी को कोई क्या बख्श देगा ? वे आदमी की लाश लेने जाती, तो उन्हें भी लाश बना दिया जाता। बदले के जोश में अत्याचारी का हमशक्ल क्या उसकी पूरी कौम की वही हो जाती है, मेरी बात उन्हें टच कर गयी, फिर कलपते सहमते बच्चों के चेहरों को देखकर वे रुक गई, मेरी मालकिन मेरी शरणदाता— उस दिन मैं उनकी ही रक्षिका बन गई, कैसा समय ? मैं रक्षाकवच बनकर खड़ी हो गई। अफरातफरी में बुद्धि फेल हो जाती है। अत्याचार की हद पार करने पर विस्फोट विनाशकारी फैलाव के साथ आता है और अत्याचारी के साथ सबको बहा ले जाता है। देखते

ही देखते संभलने का अवसर भी न मिला कि बंगले में आग लगा दी गयी, वो जलने लगा-बेचारी बच्चों की सुरक्षा के लिए भिखारिन की तरह मुँह ताकने लगीं, मैंने चौकीदार भाई के साथ शहर आने का फैसला कर लिया- खतरे की घड़ी में चेहरा मैंने ढँक दिया, पर हिन्दुस्तानी कपड़े रक्षाकवच नहीं बन पाये। मैं उन्हें नहीं बचा पायी- असहाय सी ईश्वर को पुकारती रही- बच्चों को उन्होंने नहीं टटोला- बच्चे सो रहे थे, फिर हिन्दुस्तानी इतना बेदर्द नहीं होता कि असहाय बच्चों पर गोली चला दे- कैसे चेहरा खोला और खींचकर मार दिया, कहते गये, इसी के आदमी ने हम लोगों को कितना त्रस्त किया और कितनों को मरवा दिया- अकारण मरवा दिया- आज ही तो चैन मिला- ऐसा करने पर ही उन लोगों की हिम्मत टूटेगी, वरना वे हमारे ऊपर अत्याचार करना अपना अधिकार मान लेंगे, जन्मसिद्ध अधिकार, - कहते हुए वेग से चले गये, पीड़ित हृदय की वाणी सच्चाई के लिए थी- उसका क्या जवाब ? जवाब देने का अवसर भी नहीं- मेम की लहलुहान निर्जीव काया जमीन पर पड़ी रही, डरे हुए हम उधर देख भी नहीं पाये- कुनमुनाते बच्चों को सुला दिया, पर बच्चों को क्या जवाब देंगे ? मम्मा ईश्वर के घर चली गई ? नहीं नहीं असलियत में बच्चों से नहीं कह सकती। चौकीदार का घर आ जायेगा, तब तो उन्हें जगना ही है ? उन्हें लेकर कहाँ जायेगी ? वो तो कहो मेरे आदमी के परिचित यहाँ नहीं हैं, मुझे इन बच्चों के साथ कौन शरण देगा, बहुत रहमदिल होगा तब भी कब तक छिपायेगा ? ज्यों-ज्यों शहर करीब आ रहा है, त्यों-त्यों नये तरीके की घबराहट हो रही है, अगर मेरी सौत को पता चल गया तो वो जबरी हमें उठा ले जायेगी, मुझ जैसी सेविका उसे कहाँ मिलेगी ? मुझे तीन बच्चों के लिए कुछ तो करना ही होगा। मैं चौकीदार भाई से खुशामद करूँगी कि दो-चार दिन के लिए ही शरण दे दें, उसके बाद मैं दूसरी मेम तलाश लूँगी, पर मेम कहाँ मिलेंगी ? मुझे बच्चों की सुरक्षा तो करनी ही होगी, मेम से अपनैती के कारण मन दुःखी हो रहा है, पर फिरंगी का अत्याचार तो रोंगटे खड़े करने वाला है- लगता है वे धीरे-धीरे पूरे हिन्दुस्तान पर कब्जा कर लेंगे। इस नजर से वे क्रांतिवीर लोग अच्छा ही कर रहे हैं- रास्ता उनका गलत नहीं है, हाँ अपना होने के कारण ही अखर रहा है-नसीबन लो शहर आ गया-

हम अपने घर पहुँच गये, अब आप उतर जायें- बच्चों को सहूलियत से उतारना- दो दिन तक हमारे यहाँ रहें, उसके बाद नसीबन की बाँछें खिल गईं- दो दिन के लिए वो निश्चिन्त हो गई- अन्दर के कमरे में तीनों के साथ नसीबन- बच्चों का विलाप- नसीबन आण्टी मम्मा कहाँ गई ? हमें यहाँ लेकर क्यों आयीं ? तीनों का एक साथ रोना- “बेटे वहाँ बड़ी लड़ाई हुई- तुम्हारी मम्मा अलग भागी, हम लोग अलग चले आये- खबर आ गयी है, हम तुम्हें उनके पास भिजवा देंगे।

कहने को तो कह गई, पर मन अपने को धिक्कारने लगा- ऐसा क्यों मैंने कह दिया ? क्या तीनों को माँ के पास भिजवायेगी ? जुबान में सरस्वती रहती हैं कभी-कभी बात सत्य हो जाती है। मैंने तो समझाने के लिए कहा- फिर भी मन घबरा रहा है।

नसीबन जी सबरे के बाद इतना इन्तजाम करना है, इन्हें इनके देश या इनके देश के आदमियों के पास पहुँचा देना ही अच्छा रहेगा।

ठीक है भाई-

वो चला गया- नसीबन के मन में प्यार उठने लगा, यथार्थ सामने आ गया क्या बच्चे चले जायेंगे ? तो क्या बच्चों के साथ हमें भी जाना होगा ? ये सोचने का नहीं, बच्चों की रक्षा का प्रश्न है, अपना देश इतना गिरा नहीं है, पर हमें उनकी व्यवस्था तो करनी है, अत्याचार की आँधी में बचाव के लिए भागते लोग रौंद भी सकते हैं, चाहे बाद में पछतायें ही।

बहन जी इन्हें दमदमा जाना है, ये ईसाई हैं, बहुत लोगों को साथ लेकर जा रहे हैं- वहाँ से इनको अपने देश भेज दिया जायेगा।

आज की रात के बाद तीनों चले जायेंगे- मैं अकेली रह जाऊँगी- इन बच्चों को मैंने नौकरानी की तरह नहीं, माँ की तरह पाला है, पर इस बात को बच्चे जानते हैं या मैं- मैंने बच्चों के मनपसन्द की चीज बना दी। इन सबको सही जगह पहुँचाने में कितनी दौड़धूप करनी पड़ी, ये तो मेरा करेजा जानता है। सब उस पण्डित और ईसाई की मदद से हुआ, वरना हम क्या कर पाते ?

आण्टी मम्मा को बुलाओ हम ये सब नहीं खा सकते- इतना बनाने में जितना टाइम लगा उतने में तो मम्मा को ही बुला लाती।



सब सामान रख लो, तुम्हें वहाँ मम्मा के पास जाना है— वहीं तुम्हारा देश है। नसीबन आण्टी वहाँ नहीं जा सकती।

क्यों? हम दोनों के बिना नहीं रह सकते।

हाँ बच्चों हम भी तुम सबके बिना नहीं सक सकते— कहकर वो रोने लगी— एक थैली में तीनों को सामान देकर—विदा करने स्टेशन की ओर साथ—साथ चली— दमदमा से ही उन्हें अपने देश जाना है—

आण्टी चली आओ — बच्चों के साथ आण्टी बैठती हैं, कोई मना करेगा— आण्टी चली आओ।

गाड़ी चल दी— सिसकती आण्टी ने देखा खिड़की से कूदने से लिए बेचैन बच्चों को यात्रियों ने बलिष्ठ हाथों से पकड़ रखा था—

नसीबन को देखते ही गाड़ी ओझल हो गई—

नसीबन पहली बार इतने भारी कदमों से चली, घर से भागी तब दहशत थी, पर ममता की डोर टूटने की पीड़ा तो आज ही जानी। अब जीवन खाली—खाली दिशाहीन लगने लगा। यहाँ आने पर बच्चों की सुरक्षा की चिंता थी, उन्हें अपने देश पहुँचाने का लक्ष्य कितना कठिन? मैं वहाँ जा सकती थी, पर ईसाई बनने के डर से नहीं गई— मेरी पिछली पीढ़ी जबरी मुसलमान बना दी गई और अब क्या ममता की डोरी में बँधकर ईसाई बन जाती? उस समय कुछ सोच भी नहीं पायी, बस परदेश का भय था— फिर किसी ने मुझसे कुछ कहा भी तो नहीं, मेम की तरह वहाँ कौन होगा? अब यहाँ कहाँ जायेगी? कोई पथ नहीं, कोई दिशा नहीं, मेम का हार यही जीवन निर्वाह का सहारा, पर कब तक? एक छत भी तो जरूरी है? कहाँ रहेगी? तीनों बच्चों को अनाथालय ही मिलेगा। वे वहाँ जाकर हमें ही कोसेंगे, वे नहीं जानते कि पिता और माता दोनों मारे गये, पिता के मारे जाने की खबर माँ ने नहीं दी और माँ के मारे जाने की बात मैंने छिपायी। वहाँ जाकर वे हमें ही गाली देंगे— नहीं नहीं वे हमें याद करेंगे, वहाँ तो उनसे सारी घटना बता ही जायेगी, कुछ भी हो उन्हें मुझ पर विश्वास था, प्यार था सहारा था— उस समय ट्रेन वालों ने छोटे को पकड़ न लिया होता तो वो कूद कर मेरे पास आ जाता। अभी दमदमा से अपने देश नहीं गये होंगे। सोचती हूँ वहाँ

चली जाऊँ अपने बच्चों को एक झलक देख लूँ, हो सकता है उनके रोने कलपने पर मुझे वहाँ भेज दिया जाये, मेरा यशोदा का मन है — मैं अपना देश छोड़ना कुबूल कर लूँगी मेरी ममता उमड़कर देश की सारी सीमायें मिटा रही है।

मुझे जाना होगा— मैं अपने मातृहृदय को नहीं रोक सकती, उसे नहीं मार सकती, मैं जिन्दा रहते ही मर जाऊँगी। मैं वहीं उनकी आया बनकर रह लूँगी, जीवन गुजर जायेगा। उसे नहीं ध्यान रहा कि वहाँ जाकर क्या दुर्गति होगी? वहाँ कोई सुनने वाला नहीं होगा, यहाँ से ज्यादा बदतर हालत हो जायेगी। एक फिरंगी सोफिया के कारण वहाँ की सारी औरतों को सोफिया समझ लेना भूल होगी। वो ठहरकर हार के दाम के बारे में सोचने लगी कि क्रांतिवीरों की भीड़ नजर आयी— उसे भय होने लगा कि कहीं सोफिया के घर की आया समझकर कोई हमला न कर बैठे। उनको क्या पता कि मैडम अत्याचार का विरोध करने के कारण कितना पीटी गई थी। वे मुझे भी गद्दार समझकर मार सकते हैं। मन में आत्मरक्षा का भाव जागा— इतनी जल्दी वेश नहीं बदला जा सकता— मुख भी नहीं ढँका — वहाँ रहना मेरी मजबूरी थी, इसे कोई क्या जाने? कप्तान साहब का कोई षड्यन्त्र मुझे कहाँ पता चल पाता था? उनकी मनमानी की खबर किसी को नहीं होती थी — खबर होने पर मेरा मन क्या चुप रहता? अब मैं अपना मुख नहीं ढकूँगी, उनको मारना होगा तो मार ही दूँगे— अपने जीवन की चिन्ता से तो मुक्ति मिल जायेगी और तब मेरी देह से मुक्त आत्मा बच्चों से मिलने दूर देश तक बेरोक—टोक चली जाया करेगी— सहज यात्रा— कोई बाधा नहीं, अचानक उसे किसी स्त्री ने झिंझोरा— क्यों री तू कौन है? देश में हलचल मची है और तू यहाँ मूरत की तरह बैठी है। इस देश में अब किसी को इस तरह जीने का अधिकार नहीं है, चल शामिल हो जा— इस यात्रा में औरतें गाँव—गाँव अलख जगाने जा रही हैं — बदल दे वेश भूषा, ले ले तलवार — लाठी, बल्लम — चल दे, वक्त सब सिखा देता है।

वो उठकर तलवार भाँजती उसमें शामिल हो गई — बच्चों की तस्वीर कमर में बाँधकर वो जोश से देश गीत गाने लगी।

संपर्क: 09795064439

## अन्ना की बैली में...

डॉ. मनोज मोक्षेंद्र

मिट्टू अहीर सुबह सूरज उगने से पहले ही खटिया को राम-राम कहते हुए अपने धंधे को निपटाने में व्यस्त हो गया। कनचट्टी को कई बार गुहार लगाने के बावजूद वह उसे नींद के कैदखाने से मुक्त नहीं करा पा रहा था। आखिरकार, उसने चटपट दातुन चीरकर जीभ छीलते हुए कुल्ला किया और चुल्लू-चुल्लू भर पानी से मुँह पर कई बार छींटे मारे और कोठरी में दाखिल हुआ।

“ऐ सुअरी! कब तक छिपकल्ली सरीखी खटिया पर पसरी रहेगी? चल उठु!...देख, हमें तुरंत गाँव-जवार में दूध बेच के अन्ना हजारों के पलटन के साथ तहसील जाना है...।”

उसने चौंकट कथरी को खींचते हुए अपनी लुगाई-कनचट्टी को खटिया से लगभग जमीन पर गिरा ही दिया होता। अगर कनचट्टी सम्हली नहीं होती तो बेशक! खरहरी जमीन पर गिरने से उसके घुटने छिल गए होते। उसने आँखों से कीचड़ निकालते हुए खड़े-खड़े एक अंगड़ाई ली और मिट्टू के मुँह पर अपने मुँह का खट्टा बास मारते हुए भागकर खटाल में घुस गई। पहले, उसने नांदों में भूसा डाला; फिर, मुट्ठी भर-भर उनमें घुनाए आटे का गन्हाता चोकर बारी-बारी से डाला। रात भर भूख से बिलबिलाती भैंसे सूखा चारा ही चबाने लगी। कनचट्टी डंडे से उनके मुँह पर वार करते हुए बड़ी मुश्किल से नांदों में पानी डाल पाई। तब तक मिट्टू ने दूध-नपने को दबा-दबाकर इस तरह चिपटा कर दिया कि वह दिखने में बुरा भी न लगे और उसमें दूध तौल में कम नपे। इस बीच, वह बार-बार सामने रास्ते पर देखता जा रहा था। उसे ऐसा लग रहा था कि उसे किसी के आने का बेताबी से इंतजार है।

कनचट्टी खटाल से बाहर आते ही आश्चर्य में डूब गई क्योंकि मिट्टू खुद ही हुक्का सुलगाते हुए सुड़की पर सुड़की लगाए जा रहा था। उसने रोज की तरह उससे यह भी नहीं कहा कि ‘मुरझाँसी, हमार हुक्का कौन बनाएगा?’ लेकिन, कनचट्टी को सामने देख, उसने जोर की घुड़की लगाई, “हरामी की पिल्ली! काहे टेम खराब कर रही है? ओसारे में से बाल्टी ले आ और नांद के पीछे ड्रम में पानी भर दे।”

वह लपककर भीतर गई और दूध दूहने वाली बाल्टी भैंसों के नांद के पास रखते हुए ड्रम में पानी भरने लगी। मिट्टू ने फटाफट हुक्के में कुछ लंबी सुड़की लगाते हुए भैंस के नीचे दूध दूहने बैठ गया। उसने सामने से गुजरते लोगों को देखा और फिर, भैंस के थन को सहलाने लगा। उसके अंगूठे में गजब का दम था जिससे भैंस के थन को दबा-दबा कर वह दूध का आखिरी कतरा तक निकाल ले रहा था।

पहली भैंस से दूध दूहने के बाद वह कुछ ज्यादा ही उत्साहित दिखाई दे रहा था क्योंकि उसने उस भैंस से रोज की अपेक्षा कोई डेढ़ लीटर अधिक दूध निकाला था। उसने बाल्टी के दूध को एक खाली ड्रम में उड़ेली और कुर्ते की पॉकेट से उसमें एक मुट्ठी सोडा निकालते हुए दूसरी भैंस के नीचे दूध दूहने बैठ गया।

लेकिन यह क्या? वह बार-बार थन को खर की तरह लंबा खींचकर भी उससे दूध की धार निकाल पाने में असफल हो रहा था। वह जोर से चीख उठा, “ए कनचट्टी! कहाँ मू गई? तनिक सुई तो ले आ...।”

कनचट्टी बड़ी फुर्ती से हाथ में इंजेक्शन लेकर हाजिर हुई। वरना, मिट्टू का गुस्सा तो वह जानती ही है। गाली-गुप्ता के साथ, मुँह पर लप्पड़ मारना तो उसके लिए मामूली बात है। उसके आगे के तीन दाँत ऐसे थोड़े ही टूटे हैं।

मिट्टू भैंस के थन में इंजेक्शन लगाने के बाद कनचट्टी के आगे आँख मिचमिचाते हुए एक घूरे पर बैठ गया। वह अपने मनसेधू का आशय समझ पाने में बिल्कुल असमर्थ थी। बेशक! मिट्टू का मन फलसफाना अंदाज में उससे कुछ बतकहियाने का हो रहा था। कनचट्टी को बड़ा गुमान हो रहा था कि उसका मनसेधू उसे आज इतना तवज्जो दे रहा है; वरना, उससे बात तो क्या, वह उसकी ओर सीधे मुँह ताकता तक नहीं।

“डमरू की माई! आजकल देस-दुनिया में अन्ना हजारे का ढिंढोरा बज रहा है।” मिट्टू ने खरखराकर अपना गला साफ किया।

“ऊ कइसे, डमरू के बाऊजी?” बुड़भक कनचट्टी कान से खूँट निकालते हुए बकरी की तरह बें-बें कर उठी।

“देख डमरू की माई! इ समाज में जो भ्रष्टाचार फैला है, अन्ना उसको मिटाने खातिर भूख हड़ताल करने जा रहे हैं।” मिट्टू घूरे पर से उठते हुए दीवार के सहारे खड़ा हो गया।

“गाँधी बाबा सरीखा क्या?” उसने आश्चर्य से मुँह बा दिया।

“हुँह! ऊ आज दिल्ली में एक ठो बड़ा रैली निकालने जा रहे हैं। देस-विदेस और गाँव-जवार के चौधरी-चमार, अहिर-बिलार, बनिया-बक्काल, ठाकुर-बाँभन औ’ लाला-बिलाला सब ऊ रैली में सामिल होंगे...।” वह हकलाकर रह गया।

“लेकिन, इससे का’ फायदा होगा, डमरू के बाऊजी?” वह बड़ी जिज्ञासा से आँख मिचमिचाने लगी।

“देख, बुड़भक कनचट्टी! ऊ जो मंत्री-संत्री, एम्पी-एमेल्ले का रुपइया बिदेस के बैंक में जमा है, ऊ वापिस इंडिया में आएगा और उससे हम जैसे गरीब-गुनबा का

उद्धार होगा।”

“मतलब जे कि हमार बबुआ की नुकरी चीनी मिल में पक्का हो जाएगा? ए डमरू के बाऊजी! जो रुपिया तुमको मिलेगा, ऊ तुम कुँवर जगेसर सेठ के देके बबुआ की नुकरी पक्का कर देना। दिहाड़ी खातिर मेहनत करने से उसका पिंड छूट जाएगा औ’ मजे से माहवार पगार पर अपना गुजारा होगा।” उसके पीले चेहरे पर खुशी की सुखी साफ चमकने लगी।

“हाँ, हम भी सोच बिचार कर रहे हैं कि कइसे अन्ना हजारे के पास जाएँ औ’ उनसे कहें कि ऊ बिदेसी पइसा में से एक लाख हमका भी दे दें। हम उनको उई ठइएँ दस हजार रुपिया उनके हाथ में धर देंगे औ’ नब्बे हजार इहाँ लेके आएंगे। सत्तर हजार कुँवर जगेसर को अपना बबुआ का नुकरी पक्का करने के लिए देंगे औ’ बाकी बीस हजार मीट-मछरी औ’ ठर्रा पर उड़ाएंगे...” वह खिलखिला उठा।

“तो, तहसील जाए की तइयारी कर लो ना, डमरू के बाऊजी!” कनचट्टी की आँखें गजब चमक रही थीं।

कनचट्टी द्वारा तहसील जाने की याद दिलाए जाने पर मिट्टू ऐसे हड़बड़ाकर अंदर भागा जैसे कि बिच्छू ने डंक मार दिया हो। फिर, कनचट्टी वहीं बैठे-बैठे बाल खुजलाते हुए अंगुलियों के नाखूनों में जुएँ फँसाने का यतन करने लगी। कुछ देर बाद, मिट्टू कुर्ता-पाजामा पहनकर बाहर आया और घूरे पर दोबारा बैठ गया। उसने खटाल में दूध-भरी बाल्टियों में मक्खियों को भनभनाते देख, उन पर एक अंगोछा डाला और कनचट्टी को आदेशात्मक स्वर में कुछ जरूरी हिदायतें देने लगा।

“ए साली! काहे टेम खराब कर रही है? अब हम दूध चहुँपाने नहीं जाएंगे। कुछ देर में गाहकजने खुदे आवत होइएँ। लालसाहेब दू लीटर ज्यादा दूध मंगाए हैं। सो, टेम रहते तीनों बाल्टी में दू-दू मग्गा पानी और डाल के हिलोड़ दे। तनिक चुगलखोर गाहक से चौकसी रखना; नहीं तो ऊ लोग ज्यादा दूध नपवा लेते हैं। हाँ, फालतू घेलुआ दूध मत देना...”

लेकिन, कनचट्टी का ध्यान उसकी बातों की ओर कहाँ था? उसे बड़ी बेचैनी हो रही थी कि मिट्टू तैयार होकर अभी तक तहसील के लिए रवाना क्यों नहीं हुआ।

“डमरू के बाऊजी! अब काहे देरी कर रहे हो जी?” वह अपने फहराए चींकट बालों को गठियाकर जूड़ा बनाते हुए उठी और मग्गा उठाकर दूध-भरी बाल्टियों में पानी डालने लगी।

उसके फूहड़पन पर मिट्टू एकदम से खड़ा होकर झौंझिया उठा, “हुड़ार-सरीखा काहे भाँय-भाँय चिचियाय रही है, मूरख? तनिक भठियार तेली औ’ छग्गन सुनार के तो आय जाने दे। पूरे टोली संग, हुड़दंग करते तहसील जाएंगे। सहर जाके लूट-मार करेंगे, चाट-मसाला खाएंगे औ-मौका मिलने पर सेठ-सेठाड़ियों के बटुए पर भी हाथ साफ करेंगे। अन्ना के पलटन में जाए का तो बस एक ठो बहाना है। तुम क्या बूझती हो कि हम एकदममे बकलोल हैं? हमरे हाथ में बड़ा गुन औ’ कीरत है।”

मिट्टू तन-तन कर अपनी शेखी बघार रहा था; लेकिन, कनचट्टी के दिमाग में तो कुछ और चल रहा था।

वह मिट्टू की बात अनसुनी करते हुए भभक कर बोल उठी, “ए जी! हेतना काहे बतकही का बतंगड़ बना रहे हो? अब भठियार औ’ छग्गन नहीं आवेंगे। तुमही उनके घर चले जाओ ना!”

उसके सुझाव पर मिट्टू ने अपना माथा पीटा और कनचट्टी के पास आकर उसका चेहरा निहारने लगा।

“ए बिलरी! तू तो बड़ा समझदारी का बात करने लगी हो। इहाँ हम उन कनखजूरों का झूठमूठ में इंतजार कर रहे हैं। इ बात हमारे भेजे में काहे नहीं आई कि हमही उनको लेके तहसील चले जाएं?”

वह कंधे पर लाठी सन्हालते हुए लगभग भागते हुए वहाँ से रुखसत हुआ।

छग्गन सोनार के घर के आगे जमा भीड़ को देख मिट्टू ठिठक गया। वह मन-ही-मन भुनभुनाने लगा, “निकले थे हरि-भजन को ओटन लगे कपास। अब इस तिगड़मबाज छग्गन के लफड़े में फंस गए तो तहसील कभी नहीं जा सकेंगे। अब करें तो क्या करें?”

वहाँ कोई दर्जन भर लोगों का जमावाड़ा लगा हुआ था और छग्गन गला फाड़-फाड़कर चीख रहा था, “अरे साब जी, हम तो पक्का माल दिए थे। निखालिस सोने की जंजीर थी-पूरे चौबीस कैरेट का। लेकिन, आप जने कह

रहे हो कि पितरी की जंजीर पर सोने का पानी चढ़ाके सुच्चा सोना के दाम में आपको बेचे थे। भला ई कैसे हो सकता है? हम साच्छात लछमी मइया का कसम खाते हैं कि हम अपने धंधे में तनिक भी बेईमानी नहीं करते हैं। एम्मा जरूर कौनो साजिस है- हमका झूठ-मूठ फंसाने का...”

तभी अपने लंगोटिया यार मिट्टू अहीर को सामने खड़ा देख, छग्गन का सीना एकदम से चौड़ा हो गया। अभी तक तो वह अकेले ही गला फाड़-फाड़ कर अपने ईमान और धर्म की दुहाई दे रहा था। एक से भले दो- अब तो मिट्टू भी उसके सुर में सुर मिलाने के लिए आगे आ चुका था और उसके उस ग्राहक को पटखनी देने के लिए कमर कस रहा था जो बात-बात में छग्गन को पुलिस के हवाले करने की धमकी दे रहा था।

स्वभाव से गुस्सैल मिट्टू ने आव देखा न ताव। बस, कंधे पर लाठी को ताने हुए भीड़ के बीचो-बीच जा पहुँचा। उसके आक्रामक रुख को देख, भीड़ भी तितर-बितर हो गई।

“हमरा दोस्त अपने ईमान औ’ उसूल का बड़ा पक्का है। जैसे हम सुच्चे दूध का धंधा करते हैं, वैसे छग्गन भाई भी सुच्चे सोने का माल बनाते हैं। अब इसका क्या सुबूत है कि ई सोने की जंजीर जो तुम कहीं से उठा-पठाके लाए हो, छग्गन के दुकान का ही है?” वह ग्राहक के हाथ से सोने की जंजीर लगभग छीनते हुए बड़े गौर से उसका मुआयना करने लगा।

मिट्टू की जुबान से अपनी पैरवी करते सुनकर तो छग्गन की बाँछें ही खिल गई- जैसे कि मदारी ने मरे हुए साँप पर मंतर मार कर उसमें जान फूँक दी हो।

मिट्टू ने खखारकर अपना गला साफ किया और फिर दुगुनी तेज आवाज में छग्गन से बोल उठा, “छग्गन भाई! इतना बकवास जंजीर तो तुम्हारे कारीगर कतई नहीं बनाए होंगे। अरे, हम भी तुम्हारे इहाँ अपनी लुगाई के लिए कितने गहने-गीठो बनवाए हैं। देखो! इस पर कितना फूफड़ डिजाइन बना हुआ है। भला, छग्गन सुनार अपने धंधे का गुड़-गोबर क्यों करना चाहेगा? अरे पूरे गाँव-जवार में इनकी कारीगरी का बड़ा नाम और इज्जत है...”

मिट्टू की दमदार तरफदारी से छग्गन की आँखें बिजली की माफिक चमक उठीं। उसने भी पैतरा बदला, “अरे,

मिट्टू भइया! तुम जो कह रहे हो, उसमें रंच-मात्र भी सक-सुबहा नहीं है। ई बात हमारे भेजे में काहे नहीं आई? अपने खिलाफ इतनी बड़ी साजिस हम काहे नहीं समझ पाए?”

वह भी मिट्टू के हाथ से जंजीर लेकर उसे घुमा-घुमाकर देखने का नाटक करने लगा। ग्राहक तो ठगा-सा महसूस कर रहा था। उसके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं क्योंकि सोने की जंजीर की खरीद-फरोख्त में उसे हजारों रुपये का चूना जो लगाया गया था। उसे यह देखकर हैरानी हो रही थी कि मोहल्ले की भीड़ की सहानुभूति छगन के प्रति बढ़ती जा रही है।

छगन ने मिट्टू की बात पर नहले पर दहला मारा, “मिट्टू भइया! इ जंजीर तो सचमुच पितरी की है। इ तो हमरे दुकान की हो ही नहीं सकती। हम इन साहब को जो जंजीर बेचे थे, ऊ तो कोई और दूसरा था। हम कह रहे थे ना कि इ सब हम जैसे सीधे-सादे सेठ-महाजनों को फंसाने के लिए कोई जाल बिछाया गया है।”

फिर, मिट्टू भीड़ से मुखातिब होकर उस ग्राहक को भरपूर कोसने लगा, “अरे भाई, देखो! आज कितना बड़ा अन्याय हो रहा है? उधर अन्ना बाबा बेईमानी और भ्रष्टाचार के खिलाफ बगावत कर रहे हैं और इधर हम जैसे सोझभक लोगों को ठग साबित करने का प्रपंच खेला जा रहा है। इसमें जरूर कौनो राजनीतिक चाल है जिससे कि हमारे गांववाले अन्ना की रैली में सामिल न हो सकें। हे भगवान! इस देस का अब क्या होगा? अच्छा-भला आदमी छगन भी तो अन्ना बाबा की रैली में जाने वाला है। बाप रे बाप, अब सुच्चे-सरीफ लोगों का जमाना ही नहीं रहा।”

जब वह गला फाड़-फाड़ कर अपने मोटे-मोटे आँसू बहा रहा था तो भीड़ उस शिकायतकर्ता ग्राहक को खूब खरी-खोटी सुनाने लगी। मौका देख, मिट्टू ने छगन के कान में फुसफुसाकर कहा, “अरे, छगन, अब ई भीड़ खुद-ब-खुद इ बकलोल गाहक से निपट लेगी। मौका बढ़िया है...चल फूट ले...”

भठियार तेली अपने घर की ड्योढ़ी पर मिट्टू और छगन को देख, ठिठक गया। यों तो वह झक्क सफेद कुर्ता-पाजामा पहन और चाँद पर तेल लगाकर बिल्कुल

तैयारशुदा स्थिति में था; पर, उसके मन में असमंजस का बवंडर उमड़ रहा था।

मिट्टू उसे देखते ही उसकी मनःस्थिति भांप गया- इ ससुरा भी अपने गोरखधंधे की जुगाड़बाजी में लगा हुआ है। उसने दरवाजे पर लाठी ठकठकाते हुए इशारे से कहा, “भठियार भइया! क्या सोच-बिचार रहे हो? कोई बड़ी बिपत्ती में फंस गए हो क्या? अइसे कइसे अन्ना के पलटन में हम सब जने सामिल हो पाएंगे?”

भठियार ने अपना मुँह उसके कान में डाल दिया, “यार, कल सुबेरे-सुबेरे सेठ मानिकचंद को एक कुंतल तेल सप्लाई करना है जबकि हमारे पास जो कच्चा माल है, ऊ खरा माल है। अब खरे माल का तेल निकालकर बेचेंगे तो हम तो तबाह हो जाएंगे। जो डुप्लीकेट कच्चा माल हमारे पास था, उसका तेल निकाल कर हम पहले ही बाजार में सप्लाई कर चुके हैं। हम मानिकचंद को क्या जवाब देंगे? उनसे हम बयाना भी ले लिए हैं।”

उसकी समस्या पर कुछ पल सोचकर मिट्टू मुस्कुराने लगा। उसके इस तरह से मुस्कुराने पर भठियार भड़क उठा, “इहां हम मुसीबत में फंसे हैं और तुम हो कि हमारी मजबूरी पर मंद-मंद मुस्का रहे हो?”

“तुम भी ठहरे एकदम बुड़भक तेली। अरे, कल सुबेरे तुम सेठ मानिक को कहला भेजना कि जिस कंडाल में तेल निकालकर रखे थे, उसके पेंदे में न जाने कैसे छेद हो गया और सारा तेल बह गया और तेल की सप्लाई अगले हफ्ते होगी। आखिर, सेठ मानिक जाएगा तो कहाँ जाएगा? ई गाँव में तुम्हारे सिवाय, और कोई दूसरा तेली तो है नहीं, जो उसे तेल निकालके देगा। कुछ ज्यादा लफड़ा होगा तो हमें बुलवा लेना। हम मामले को बढ़िया से सलटा देंगे। हम भी चतुर-सुजान किशन भगवान के बिरादरी के हैं। जब हमारा काइयां दिमाग रपटने लगता है तो कायथ-भुमिहार सब मुँह ताकते रह जाते हैं।”

मिट्टू ने इतने आत्मविश्वास के साथ भठियार की पीठ थपथपाई कि वह खुशी के मारे खींस निपोरने लगा, “मिट्टू भइया! तुम तो हमारे लिए वही हो जो अर्जुन के लिए किसन कन्हइया थे। अब जब तुम्हारा आसरा है तो डर काहे का?”

“लेकिन, तुम्हारा डुप्लीकेट माल कब तक आवेगा?”

मिट्टू के सवाल ने उसे पल भर के लिए गंभीर बना दिया।

अरे, बल्ली सिंह थानेदार है ना। वही हमें डुप्लीकेट माल मुहैया कराता है औ' बदले में कुल मुनाफे में से एक-तिहाई हिस्सा हजम कर जाता है।" भठियार के चेहरे पर निश्चिंतता का भाव साफ तैर रहा था जैसे कि बल्ली सिंह को इतना देकर भी उसे बड़ा सुकून है।

"अच्छा तो उससे और डुप्लीकेट माल मंगा लिए हो कि नहीं?" मिट्टू ने उसके अभिभावक की तरह उसे हिदायत दिया।

भठियार मुस्कुराने लगा, "अरे, मिट्टू भइया! बल्ली सिंह भी हम जने के साथ अन्ना की रैली में सामिल होंगे। हम उन्हें रास्ते में ही माल पहुंचाने के लिए कह देंगे। ऊ तो हमारे धंधे में तुरत-फुरत काम करते हैं, आखिर ऊ भी तो हमारे गोरखधंधे के पाटनर हैं।"

कोई ग्यारह बजे मिट्टू अपने दोस्त छगन और भठियार जैसे दर्जन-भर लोगों के साथ पुलिस चौकी पहुंच गया। बल्ली सिंह ने तहसील जाने के लिए पहले से ही एक ट्रकवाले को फर्जी केस में हवालात में डालकर उसके ट्रक को जब्त कर रखा था ताकि रैली में जाने वालों को कोई दिक्कत न हो। गांव से तहसील की दूरी कोई पैंतीस मील थी। लगभग डेढ़ घंटे बाद यानी साढ़े बारह बजे तक गांव की पलटन ट्रक पर सवार होकर ठीक तहसील कोर्ट के सामने उतरी।

जैसे ही मिट्टू के पांच जमीन पर पड़े, उसके पंख उग आए और उसके दिमाग से अन्ना और अन्ना की रैली का बुखार उतर गया। वह छगन और भठियार को शराब के ठेके की ओर खींच ले गया। ठेके के मालिक को उसने अपना परिचय कुछ यूं दिया, "हमजने थानेदार बल्ली सिंह के आदमी हैं। हमें जी-भरके पिलाओ नहीं तो तुम जानते ही हो- बल्ली सिंह थानेदार तुम्हारा क्या करेगा?"

घंटे-भर छककर शराब पीने के बाद उसने छगन के कान में फुसफुसाकर कहा, "यार, सहर आए हैं तो तनिक और मौज-मस्ती भर कर लें।"

मिट्टू इधर-उधर बल्ली सिंह को तलाशने लगा। छगन ने कहा, "मिट्टू भइया, बल्ली का अड्डा हमका मालूम है।" तीनों नशे में धुत होकर मशहूर कोठेवाली सफीना

बानो की गली में घुस गए। भठियार खिड़कियों पर बैठी सजी-संवरी रंडियो को देख, पाजामे के जेब में हाथ मसलते हुए बेकाबू हुआ जा रहा था। छगन ने उसका कंधा दबाते हुए कहा, "भठियार, तनिक सबर कर। जइसे फ्री में पीए हैं, वइसे फ्री में रात गुजारेंगे। बस्स, तनिक बल्ली सिंह का थोबड़ा दिख जाय।"

तभी उसे अहसास हुआ कि मिट्टू उसके साथ नहीं है। उसने घूमकर देखा तो मिट्टू, बल्ली सिंह के पीछे-पीछे एक कुत्ते की माफिक दुम दबाकर सीढ़ियाँ चढ़ रहा है। अगर वह उन दोनों को उँगली के इशारे से ऊपर आने का संकेत नहीं करता तो बेशक, छगन घिघियाकर चिल्ला उठता।

उस शाम, शहर में निहायत हैरतअंगेज चीजें दिखीं और अजीबोगरीब वारदात से शहर खबरों का एक जखीरा बन गया। जो दिख रहा था, उसी के माथे पर 'मैं अन्ना हूँ' की पट्टी बंधी हुई थी और जो सबसे ज्यादा उत्तेजित था, उसके सिर पर गांधी-टोपी थी। जिनके सिर पर न टोपी थी, न माथे पर पट्टी, वे बेतहाशा इधर-उधर भाग रहे थे। लिहाजा, भैरो गुज्जर के गैंग के आदमियों ने खुलेआम हफ्ता वसूली की और नामधारी जाट के गुंडों ने रेस्तराओं में घुसकर मुफ्त माल उड़ाया और मारपीट की। ठेलों पर चाटवाले विक्रेता गुंडे-बदमाशों की भीड़ देख, भाग खड़े हुए और पान की गुमटियों वाले ने भी अपनी जान नालों की ओट में छिपकर बचाई। सभी कोटे हाउस-फुल होने के कारण गांव से आए बड़े घर के मर्दों ने मेन चौराहे पर हंगामा और हड़दंग मचाया। कुछों ने तो सेठों की कोठियों में घुसकर औरतों पर धावा बोला और न जाने क्या-क्या अनापशनाप किया। शापिंग करने आई लड़कियों ने अपने बचाव के लिए चुन्नी मुंह पर लपेटकर पुलिस की गुहार लगाई; लेकिन, उनकी चीख उन लोगों की नारेबाजी का हिस्सा बन गई जिनके माथे पर 'मैं अन्ना हूँ' की पट्टियां बंधी हुई थीं और जिनकी हिफाजत में पुलिस लगी हुई थी।

अगले दिन सुबह, मिट्टू, छगन और भठियार गाँव में अपने-अपने धंधे में व्यस्त दिखे। मिट्टू काफी देर रात को वापस गाँव लौटने और नींद पूरी न होने के बावजूद बेहद खुश था। सबरे काम निपटाने के बाद वह ओसारे में गया



और बोरी में लाई रेजगारी को गिनने लगा।

कनचट्टी की आँखें फटी की फटी रह गई, “ए डमरू के बाऊ! इ हेतना पइसा बिदेस से आवा है क्या?”

मिट्टू मुस्कुरा उठा, “हाँ रे चिमरखी! सुटजर लैंड से आवा है—अन्ना बाबा के पास। ऊ हम जैसे दरिहरों को कल इहै पइसा बांट रहे थे। कह रहे थे कि अगले महीने और पइसा आएगा इंग्लैंड से। हम अपने पलटन संग फिर जावेंगे। अबकी बार दिल्ली जावेंगे।”

कनचट्टी खटिया पर पसरकर अपनी गरदन खुजलाने लगी, “लेकिन, सुटजर लैंड से इ चिल्लर ही आवा है? अरे, अन्ना बाबा चिल्लर ही कांहे बांटे हैं? रुपिया काहे नहीं? देखो, चिल्लर गिनने में केतना परसानी होए रहा है?”

तभी बाहर थानेदार बल्ली सिंह की बाइक धड़ाम से आकर रुकी। मिट्टू तो एकदम से हड़बड़ा उठा और एक मुजरिम की तरह सिर झुकाए उसके पास गया। बल्ली अपना डंडा घुमा-घुमाकर मिट्टू से जिस तरह बतिया रहा था, उससे कनचट्टी घबड़ा-सी गई। कुछ मिनट बाद दोनों ओसारे की ओट में आ गए। मिट्टू ने कनचट्टी की ओर आंख तरेरा तो वह पूंछ दबाकर कोठरी में दुबक गई। उसके बाद, बल्ली सिंह ने अपना डंडा मिट्टू के कंधे पर रख दिया, “देख, मिट्टूआ! तू कल तहसील में हमारे नाम

पर फ्री में माल खाया, शराब पी, रंडीबाजी की और सरेबाजार लूटमार की। चल, जो तू खा-पी गया और रंडीबाजी का मजा लिया—उसका पैसा तो हम मांगेंगे नहीं। लेकिन, इ लूटपाट से जो पैसा तूने वसूला है, उसका पछत्तर परसेंट हमें दे दे, वरना अन्ना हजारे की कसम! तुझे फर्जी केस में हवालात में डालकर कुत्ते की मौत मार डालूंगा। मैं बेईमान लोगों को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करता हूँ।”

मिट्टू ने बल्ली सिंह के आगे साष्टांग समर्पण कर दिया, “सरकार! आप तो हमारे माई-बाप हैं। हमें तो इस बात की खुशी है कि कल आपके बदौलत हमजने तहसील में कितना मौज उड़ाए रहे? बस, आपसे एक ठो गुजारिस है कि जब अन्ना बाबा की रैली फिर निकले तो हमें मत भुलाना। हम आपकी सेवा करने दिल्ली तक चलेंगे।”

फिर, मिट्टू ने रेजगारी की गठरी को थानेदार बल्ली सिंह की ओर सरका दिया और बाहर निकलकर ‘अन्ना हजारे की जय’ का इतना जोरदार नारा लगाया कि बरगद के पेड़ों में सुस्ता रहे परिंदे फड़फड़ाकर बाहर उड़ने लगे और लोग बाग इस तरह हदस कर बाहर निकल आए जैसे कि गब्बर सिंह फिर से जेल से भागकर गाँव में आ गया हो और फायरिंग करते हुए हथकट्टे ठाकुर को सौंपने के लिए लोगों को डरा-धमका रहा हो!

संपर्क: 09910360249

## जमाना

प्रभाकर मिश्र

अप्रैल का महीना था। गेहूँ की फसल तैयार हो चुकी थी। अभी तक प्रकृति ने किसानों का साथ दिया था जिसकी झलक गेहूँ के लहलहाते खेत को देखकर ही आभास हो रहा था। कुछ खेतों की फसलें कट चुकी थीं।

एक दिन पण्डित ने कहा, 'इस साल गेहूँ की फसल बहुत अच्छी है, पण्डिताइन। दो-चार किंवटल गेहूँ बेचकर तुम्हारे कान का झुमका बनवा दूँगा। झुमका पहनकर तुम बहुत सुन्दर लगोगी।'

'फसल तो अच्छी है, पैदावार भी ठीक होगी, लेकिन जब घर में आ जाएँ तब मानूँ। कुछ खा पीकर जाओ, मजदूरी कर लो। पता नहीं कब आँधी-पानी आ जाए। पिछले वर्ष तो समय से कटाई हो गयी लेकिन मड़ाई में देर कर दी। पूरा गेहूँ एक दिन की बरसात से खराब हो गया। मजदूरों का क्या दोष दूँ? उनको तो पचास जगह काम करना होता है। जब समय मिलेगा तब आएँगे।'

'कल मैं चिथरू के घर गया था। वह तो नहीं मिला लेकिन चम्पा घर पर ही थी। उससे कहकर आया हूँ। एक-दो दिन बाद आने को बोली है।'

'हाँ! तुमको चिथरू के सिवा दूसरा और कोई नहीं मिलता। वह तो एक नम्बर का आलसी है। जब देखो चाय की दुकान पर बैठा बीड़ी पीता रहता है। उसकी घरवाली चम्पा, वह तो मुझे बड़ी चालू लगती है। कैसे नैन मटकाकर बात करती है।'

'तुम कुछ भी कहो पण्डिताइन लेकिन चम्पा बड़ी मेहनत से काम करती है, रात को रात नहीं समझती। चिथरूआ तो रात में कहीं जाकर सो जाता है लेकिन चम्पा पूरी रात जागती रहती है जैसे उसे नींद ही नहीं आती। मैं उसका रूप देखकर उसे नहीं बुलाता। तुम तो अनायास ही मुझ पर शक करती हो।'

सब मालूम है मुझे। पट्टी मत पढ़ाओ। तुम मर्दों को मैं अच्छी तरह जानती हूँ। घर की लक्ष्मी से सीधे मुँह बात नहीं करोगे, बाहर की औरतों से तो पूछो मत। और सुनो दिन में अगर मड़ाई का नम्बर मिले तो रात के नम्बर का इन्तजार मत करना।' पण्डिताइन ने कड़े शब्दों में कहा।

दो दिन बाद कटाई शुरू हो गयी।

'तुम बड़े भाग्यशाली हो चिथरू जो चम्पा जैसी पत्नी तुम्हें मिली। ईश्वर ने इसे रूप के साथ हुनर भी दिया है।'

'आप ठीक कह रहे हैं पण्डित जी। बस्ती वाले सब जलते हैं। कहते हैं कि चम्पा के कारण ही लोग काम पर बुलाते हैं। यदि वह नहीं होती तो मुझे कोई फटकने भी नहीं देता। मैं भी क्या करूँ? सच पूछिए तो मेरा मन काम में नहीं लगता लेकिन मजबूरी है कुछ करूँगा नहीं तो खाऊँगा क्या? बाकी तो सब ठीक है पण्डितजी, यदि आपके आशीर्वाद से चम्पा को बच्चा हो जाता तो बहुत अच्छा

रहता। शादी को दस वर्ष हो चुके हैं लेकिन अभी तक उसकी गोद सूनी है। मेरा वंश कैसे चलेगा? इसी चिन्ता में दिन रात पिसता रहता हूँ। पता नहीं चम्पा का भाग्य कहाँ सोया है? कभी-कभी तो मन करता है, दूसरी पत्नी लाऊँ, शायद उससे मेरा वंश आगे बढ़े। लेकिन चम्पा को देखकर मन ऐसा करने से मना कर देता है।' चिथरू ने बड़े दुःखी स्वर से कहा।

'चिन्ता मत करो, ईश्वर चाहेगा तो चम्पा की गोद जल्दी भर जाएगी।' पण्डितजी ने चिथरू को आशीर्वाद देते हुए कहा।

गेहूँ की मड़ाई शुरू हो चुकी थी। पण्डिताइन के लाख मना करने के बाद भी पण्डित ने रात को मड़ाई शुरू करायी। इसके पीछे भी पण्डित का तर्क था। रात में मौसम ठंडा होने से मड़ाई करने में शरीर को कष्ट नहीं होता।

पण्डितजी, चिथरू और चम्पा के बीच वार्तालाप एक बार शुरू हो जाती तो कब पूरी होगी कहना मुश्किल है।

चम्पा ने हँसते हुए कहा, 'पण्डितजी आप भी न जाने कैसी-कैसी बातें करते हैं। मुझे लगता है पूरी रात बातें करने में ही बिता देंगे। सुबह होने वाली है देखो, अभी कितने बोझ पड़े हैं। आज पूरे गेहूँ की मड़ाई हो जानी चाहिए। ठाकुर का बुलावा आया है। कल उनके खेतों में काम करना है। आप को तो मालूम है ठाकुर कितना जालिम है, जरा सी देर हुई नहीं कि फटफटी लेकर दरवाजे पर सवार हो जाते हैं। कुछ हो पण्डित ठाकुर का दिल बड़ा है। काम करवाते हैं तो मजदूरी देने में कंजूसी नहीं करते। एक आप हो केवल मीठी-मीठी बातें करते हो। इसमें तुम्हारी भी कोई गलती नहीं है। सारा कसूर तो पण्डिताइन का है। काम के समय तो दिखती नहीं, पूरे रात खरटे भरते हुए घर में सोती हैं। जब मजदूरी देने का समय होता है तो सिर पर सवार हो जाती हैं। जैसे उनको तुम्हारे ऊपर विश्वास ही नहीं है। तुम चाहकर भी कुछ नहीं कर सकते। वैसे तो बहुत बोलते हो लेकिन पण्डिताइन के सामने बोलती बन्द हो जाती है।'।

'क्या करूँ चम्पा? पण्डिताइन का स्वभाव ही ऐसा है। जब देखो लड़ने के लिए तैयार रहती है। इसलिए तुमसे बातें करके मन को कुछ हल्का कर लेता हूँ।'।

चम्पा ने चुटकी लेते हुए कहा, 'तुम सब ऐसे ही हो क्या? तुम्हारी तरह एक दिन ठाकुर भी कह रहे थे कि

चम्पा बस्ती में काम करने वाले बहुत हैं लेकिन तुम्हारी तरह कोई नहीं है। एक दिन ठाकुराइन भी कह रही थी कि न जाने इस मुई में क्या रखा है? जो सब उसी के पीछे पड़े रहते हैं।'।

'अरे चिथरू! परधानी का चुनाव होने वाला है। तुम लोग इस बार किसको वोट देने वाले हो।' पण्डित ने चिथरू के मन की बात जाननी चाही।

'पण्डितजी, हम लोग वोट चाहे जिसे दें। जीतेगें तो बाभन-ठाकुर ही। इनके सामने तो कोई और जीत नहीं सकता। पिछले चुनाव में बस्ती वालों ने मीटिंग करके शंकर को खड़ा किया था लेकिन क्या हुआ। वोट का समय आते-आते सारी एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। ठाकुर ने वोट के एक दिन पहले बस्ती में खूब रूपया और शराब बाँटवाया। जिन लोगों ने शंकर को खड़ा किया था उन्हीं लोगों ने साथ छोड़ दिया। बिरादरी का कौन कहे उसे परिवार का भी वोट नहीं मिला। पंडितजी, सरकार ने वोट का सिस्टम करके बहुत अच्छा किया। पाँच साल तो बाभन-ठाकुर हम लोगों को अछूत मानते हैं लेकिन वोट का समय आते ही सब भूल जाते हैं। पिछले चुनाव में शंकर ने मीटिंग करके कहा था कि ये बाभन-ठाकुर कितनी भी हमदर्दी दिखा लें लेकिन हम लोगों को अछूत मानते आए हैं और मानते रहेंगे। कुछ बदलने वाला नहीं है। चुनाव आने पर समाजवाद की बात करते हैं लेकिन हमारे घर में खाने की कौन कहे एक गिलास पानी भी नहीं पिएंगे। अगर तुम लोगों को विश्वास न हो तो इस बार आजमाकर देख लो।'।

'तुम लोगों ने आजमाया या नहीं?' पंडितजी ने पूछा।

चिथरू ने मजे खिलाड़ी की तरह बोलना शुरू किया, 'पिछले चुनाव में राजा सिंह और दीना तिवारी में काँटे की टक्कर थी। वोट के दिन कोई कहने की स्थिति में नहीं था कि कौन जीतेगा? दोनों ने पूरी ताकत लगा दी थी। तिवारी बाभनों के वोट से आश्वस्त थे। राजा सिंह ठाकुरों के वोट पर उछल रहे थे। सब कहते थे कि हमारी बस्ती का वोट निर्णायक होगा। बस्ती वाले जिसको चाहेंगे वही चुनाव जीतेगा। इसलिए दोनों की निगाहें बस्ती पर लगी थी। एक उठता तो दूसरा आ धमकता। पूरी रात चुनाव प्रचार में लगे रहते, सोने को भी नहीं मिलता था। सुना था कि उन दोनों के आदमी हमारी बस्ती के पल-पल की खबर उन तक

पहुँचाते थे। एक दिन की बात है, रात को करीब बारह बजे थे, दीना तिवारी भोला के खाट पर आकर बैठ गए। भोला खाट से उतरने लगा तो तिवारी ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा— वह समय बीत गया जब हम ऊपर बैठते थे और तुम नीचे। अब तो सरकार ने सबको समान अधिकार दे दिया है। अब हममें—तुममें कोई अन्तर नहीं है। तिवारी के उठते ही ठाकुर आ गए और कहने लगे...भोला मेरा आदमी बता रहा था कि कुछ देर पहले तिवारी आए थे और तुमने उन्हें वोट देने का वादा भी कर दिया। क्या करता ठाकुर साहब? दीना तिवारी कहने लगे देखो भोला मैं बाभन होकर तुम्हारे घर आया हूँ। वोट तो देना ही होगा। उसे शंकर की बहुत याद आ गयी। उसने भी दाव चली और कहा— पण्डितजी, आप बाभन हैं, हमारा वोट लेकर अछूत तो नहीं हो जाएंगे। विश्वास करिए, मुझे तिवारी से ऐसी उम्मीद नहीं थी। उन्होंने कहा— कैसी बात करते हो, जमाना बदल चुका है, अब कोई अछूत नहीं है। तो क्या पण्डितजी मेरे घर का पानी पीओगे? भोला की बात सुनकर तिवारी बोले— अरे, पानी में क्या रखा है? पानी तो गंगाजल है। पानी क्यों नहीं पीऊँगा?...आप मानोगे नहीं, तिवारी मेरे हाथ का दिया पानी एक ही साँस में पी गए। भोला की बातें सुनकर ठाकुर ने कहा— आज तो मैं जल्दी में हूँ, अभी बहुत जगह जाना है, रात भी काफी हो चुकी है, पानी को कौन कहे मैं तुम्हारे घर पर खाना भी खा लूँगा। आज तुम मुझे भी पानी पिला दो, लेकिन वोट मुझे ही देना।’

पूरी बातें सुनने के बाद पण्डितजी ने कहा, ‘चिथरू, तुमने ऐसा वर्णन किया जैसे सब अपनी आँखों से देखी हो।’

चिथरू ने बड़ी उत्सुकता से पूछा, ‘सुना है इस बार परधानी की सीट आरक्षित होने वाली है।’

‘हाँ, मैंने भी सुना है। यदि ऐसा हुआ तो तुम्हारी बस्ती का ही परधान बनेगा।’

‘शंकर कह रहा था कि राजा सिंह उसे खड़ा कर रहे हैं। और भोला तो दीना तिवारी का नाम लेकर उछल रहा है। शंकर जीते या भोला, सत्ता की चाभी तो घूम फिरकर बाभन—ठाकुर के हाथ में रहेगी।’ चिथरू ने लम्बी साँस

लेते हुए कहा।

‘कुछ कहा नहीं जा सकता, देखो भविष्य में क्या होता है?’

कुछ दिनों बाद चुनाव की अधिसूचना जारी हो गयी। राजा सिंह के गाँव की सीट आरक्षित हो चुकी थी। राजा और दीना ने अपनी-अपनी ओर से शंकर और भोला को चुनाव में खड़ा किया। इस बार का चुनाव ठाकुर और बाभन के नाक की लड़ाई बन गयी है।

ब्राह्मणों की संख्या अधिक होने के कारण तिवारी समर्थित उम्मीदवार भोला चुनाव जीत गया। चुनाव जीतने पर जितना जश्न भोला के घर में नहीं मनाया गया उससे अधिक तिवारी के यहाँ हुआ। खूब पटाखे फोड़े गए। भोला तिवारी के द्वार पर बैठा मुस्कुरा रहा था। समय-समय पर तिवारी लोगों को बताना नहीं भूलते थे कि उन्हीं के कारण भोला आज परधान बना है।

भोला, तिवारी का अहसान तो मानता था लेकिन उसे तिवारी के हाथों कठपुतली बनना कतई पसंद नहीं था। एक दिन उसने कहा ‘तिवारी जी बिना मुझसे पूछे आप कोई निर्णय मत लिया करिए। मैं आँखें बंद करके कागज पर अंगूठा नहीं लगाऊँगा। मैं अनपढ़ हूँ लेकिन मेरा बेटा पढ़ा-लिखा है। जब तक वह नहीं कहेगा मैं किसी कागज पर अंगूठा नहीं लगाऊँगा।’

भोला की बातें सुनकर तिवारी का खून खौल गया।

उन्होंने कहा, ‘वह तुम्हारा बेटा चतुरिया, दो अक्षर पढ़कर सरकारी नौकरी क्या पा गया, अपने आप को गवर्नर समझने लगा। मैंने तुम्हें चुनाव जीतवाया और तुम उसके कहने पर चलोगे। तुम वही करोगे जो मैं कहूँगा। तुम्हें जहाँ कहा जाए वहाँ अंगूठा लगा दिया करो। यह मत समझो कि पूरा पैसा मैं अकेले ही खा जाऊँगा, तुम्हारा हिस्सा तुम्हें मिल जाया करेगा।’

‘अब ऐसा नहीं होगा, मैं रबर स्टाम्प बनकर परधानी नहीं कर सकता। अगले पाँच साल तक मैं ही परधान हूँ। मैं वहीं करूँगा जिससे गाँव का कल्याण हो। और हाँ! मेरे बेटे का नाम चतुरीराम है, चतुरिया नहीं। सम्मान पाने के लिए सम्मान देना चाहिए तिवारीजी। अब जमाना बदल चुका है।’

संपर्क : 09969675059

## “पिंजरा : नारी-वेदना बनाम मुक्ति-चेतना”

डॉ. सुनीता साव

हिन्दी विभाग

सावित्री गर्ल्स कॉलेज

कोलकाता

उपन्यास की मूल शक्ति जीवन-यथार्थ के निरूपण में है। मानव-जीवन के बुनियादी प्रश्न उसके अनेकानेक बाहरी-भीतरी स्वरूपों को बनाने वाली, बदलने वाली परिस्थितियाँ, समस्याएँ, आपसी सम्बन्ध और मानव-मन के भीतर रहस्य सभी मिलकर जिन्दगी का एक संश्लिष्ट रूप बनाते हैं। इसी जिन्दगी के संश्लिष्ट रूप को पहचानने की शुरुआत उपन्यासों में पहली बार हुई। जीवन के विविध पहलुओं को उद्घाटित करने के लिए उपन्यास के अलावा साहित्य की और कोई विधा नहीं हो सकती। शायद यही वजह है कि मनुष्य के जीवन की विभिन्न समस्याओं को उभारने हेतु ही उपन्यासकारों को उपन्यास जैसी विधा के विस्तृत फलक की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिए उपन्यास की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि समकालीन जीवन की नाना गतिविधियों को यथातत्त्व रूप में चित्रित करने का सामर्थ्य उपन्यास में ही है।

सन् 1960 के बाद उपन्यासों की दशा और दिशा में एक नया मोड़ आया। वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर नये-नये परिवर्तन हुए। एक तरफ यथार्थवाद पर बल दिया गया तो दूसरी तरफ मिथकों का भी सार्थक उपयोग किया गया। समाज और राजनीति का बोध भी काफी तीव्र हुआ। इनके बीच विभाजक-रेखाएँ प्रायः धूमिल हो गईं। असामाजिक तत्त्वों, साहित्यिक षड्यंत्रों, सरकारी तंत्र भ्रष्टताओं आदि का साहसपूर्वक पर्दाफाश किया जाने लगा। नये-नये विमर्शों की तलाश की जाने लगी। इन्हीं विमर्शों से नारी-विमर्श भी उभरकर सामने आया। साठोत्तरी उपन्यासों में नारी-विमर्श की प्रक्रिया अत्यंत जटिल और लम्बी है। उसके कई स्तर और आयाम हैं। सच पूछा जाए तो यह एक लम्बी लड़ाई है। प्रायः इसे पुरुष के विरुद्ध मानकर प्रक्षेपित किया जाता है लेकिन साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में मात्र यौन-उच्छृंखलता अथवा पुरुष-मात्र के प्रति घृणा-प्रदर्शन को स्त्री का लक्ष्य निरूपित नहीं किया गया है। नारी की मुक्ति चेतना उसके नये व्यक्तित्व को सामने लाई है। केवल विचार के स्तर पर ही नहीं, संवेदना के स्तर पर भी उपन्यासकारों ने इसे एक नये शिल्प के साथ अपने उपन्यासों में विन्यसित किया है। महिला उपन्यासकारों ने प्रायः नारी-जीवन के ईर्द-गिर्द ही अधिक लिखा है। उनका लिखा हुआ ‘रूढ़ नारीवादी दृष्टि’ से पोषित और परिचालित नहीं है, यह भी कम उल्लेखनीय बात नहीं। इस सन्दर्भ में राजी सेठ का यह कथन द्रष्टव्य है- “किसी स्त्री-पात्र का अंधाधुंध पक्ष लेकर कोई स्त्री रचनाकार कभी प्रभावी रचना को जन्म नहीं दे सकती।” नारी-विमर्श के सन्दर्भ में एक विचारणीय टिप्पणी अरविन्द जैन की भी है- “आदमी हमेशा नारी की स्वतंत्रता से डरता रहा है और उसे ही उसने बकायदा अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया है। अपनी अखण्डता और सम्पूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है।...इसलिए आदमी ने उसे तोड़ा है।”

अमृता प्रीतम के उपन्यासों की नाँव ही नारी-वेदना और प्रेम है। उनके उपन्यासों के केन्द्र में नारी और उसकी जीवनगत समस्याएँ हैं जिनके मध्य से गुजरती, टकराती और हिचकोलें खाती हुई नारी अपने लिए एक अलग स्थान बना लेती है। अमृता जी ने नारी के जिस चरित्र को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है, वह अत्यंत प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण है। स्वयं अमृता जी लिखती भी हैं, “जब लिखने के लिए मैंने कलम पकड़ी तो यह मेरे जेहन का तकाजा था कि मेरे लेखन की नायिका वह स्त्री होगी, जो द्रौपदी की तरह भरी सभा में कोई सवाल पूछने की जुरत रखती हो।” समय की सारी आपाधापियों के बीच अपनी रफ्तार बरकरार रखते हुए, चुनौतियों का मुँहतोड़ जवाब देते हुए भी अमृता प्रीतम अपने जीवन में नितांत अकेली हैं; यही सच है। रास्ता भी मिल गया, मंजिल भी, लेकिन जो पाना चाहा था, अब तक वह नहीं मिल पाया। लेकिन फिर भी अमृता जी ने अपने उस हिस्से की जमीन को

छोड़ा नहीं है, जिस पर वह खड़ी हैं, अपने दम पर खड़ी हैं। अमृता जी की इसी साहसिकता से प्रभावित होकर पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गाँधी 17 मई, 1983 को अपने एक पत्र में लिखा था- “अमृता! हालांकि मैंने तुम्हारी रचनाओं को ज्यादा नहीं पढ़ा, बहुत थोड़ा पढ़ा है। मेरी नजर में तुम्हारे ख्यालों और लफ्जों में खूब शक्ति है। साथ ही तुममें एक जुर्रत है और मेरे अनुसार जुर्रत एक बुनियादी वस्तु है। इसके बिना कोई अपने आप से सच्चा नहीं हो सकता। न खुद के साथ न चिंतन के साथ।” अमृता जी में विद्वता नहीं, पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं, बल्कि एक आम नारी का चिंतन है, दर्शन है और दृष्टिकोण है। वह जिस सामान्य नजरिये से समाज को देखती है, बस वही नजरिया उनकी लेखन-कला में भी झलकता है। उनकी लेखन में बेबाकी और स्पष्टवादिता है, इसलिए वह जो कुछ भी कहती हैं या लिखती हैं, उसमें शत-प्रतिशत सच्चाई होती है। उनकी लेखनी ही उनके जीवन का सबसे बड़ा आधार है। वह कहती हैं- “जब तक मेरे हाथ में कलम है, तब तक मेरे जीवन की किसी भी घटना-दुर्घटना की मुझे चिंता नहीं। कलम के सहारे जीवन की हर मुसीबत का सामना करती रहूँगी और सुख पाती रहूँगी।” इसलिए “... जो कलम इस सम्पूर्ण रास्ते में मेरे साथ रही, चाहती हूँ माँस के मिट्टी हो जाने की सीमा तक मेरे साथ रहे।” अमृता जी के ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बलवंत सिंह लिखते हैं, “अमृता जी उन लोगों में से हैं जो अपने दिल पर दुःख और दर्द के दाग लेकर इस दुनिया से विदा लेते हैं और अपने पीछे साहित्य रूपी कुछ गुलाबी चिह्न छोड़ जाते हैं।

अमृता जी को लेखन-कार्य की ओर उन्मुख करने वाले दो घटक हैं- उनका अकेलापन और देश-विभाजन। उनके अकेलेपन ने यदि उनकी कल्पनाशीलता को यथार्थ के कठोर धरातल पर टिके रहने की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर देश-विभाजन की त्रासदी ने उनकी दृष्टि को विशालता प्रदान की जिसके कारण वे केवल उस त्रासदी को ही नहीं; बल्कि वियतनाम के दर्द और चेकोस्लोवाकिया के दुःख को भी उतनी ही आत्मीयता से महसूस करती हैं, जितनी अपनी वेदनाओं को। इन्हीं वेदनाओं का दस्तावेज हैं- उनकी रचनाएँ। विशेष रूप से वे रचनाएँ, जिनका उन्होंने विभाजन के समय सृजन किया। वे हैं- ‘वारिसशाह से’

कविता और ‘पिंजर’ उपन्यास।

अमृता जी को ऐसा महसूस हुआ कि वारिसशाह कितना बड़ा कवि था जो हीर के दुःख को गा सका। लेकिन आज पंजाब की एक नहीं, लाखों बेटियाँ रो रही हैं, आज उनके दुःख को कौन गायेगा और उन्हें वारिसशाह के सिवाय और कोई ऐसा नहीं लगा, जिसे सम्बोधित करके वह अपनी बात कहतीं :-

“आज वारिसशाह से कहती हूँ, अपनी कब्र में से बोलो, और इश्क की किताब का, कोई नया पृष्ठ खोलो। पंजाब की एक बेटा रोई थी, तूने लम्बी दास्तान लिखी। आज लाखों बेटियाँ रो रही हैं, वारिसशाह, तुमसे कह रही हैं।

ऐ दर्दमन्दों के दोस्त! अपने पंजाब को देखो, वन लाशों से अटे पड़े हैं, चिनाब लहू से भर गयी है।”

‘पिंजर’ अमृता जी का पहला उपन्यास है, जो 1948 में प्रकाशित हुआ। ‘पिंजर’ का प्रकाशन उपन्यास जगत में एक महत्वपूर्ण घटना मानी गयी। इस उपन्यास के द्वारा नारी की सामाजिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। यह उपन्यास नारी की उस जन्मजात यातना की कथा है, जिसके विभाजन और उसके साथ जुड़ी-बँधी पाशविकताओं ने बहुत-बहुत बढ़ा दिया। उर्दू के नामी शायर फैज अहमद फैज के अनुसार, “विभाजन की त्रासदी का चित्रण अमृता प्रीतम से ज्यादा दुःख के साथ कोई न कर सकता।”

अमृता जी ने बाल्यवास्था में ही हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को देखा और अनुभव भी किया था कि दो मजहबों के टकराने से साधारण जीवन में कितनी उथल-पुथल मच जाती है। वह लिखती हैं- “इंसानियत के अलावा मनुष्य का जो रूप होता है, वह मैंने देखा है- मैं बचपन से मजहबों की भयानकता देखती आयी हूँ। लाहौर में होली के अवसर पर रंग का एक छींटा पड़ा जाता तो दूसरे सिरे से छुरे निकल आते थे।” इतना ही नहीं, बचपन से देखी हुई हिन्दू और मुसलमानों के बीच की इस कट्टरपंथी विचारधारा ने अमृता जी को साहित्यकार अमृता बनने और लेखनी उठाने पर विवश कर दिया था। वह लिखती हैं- “जब मैं छोटी थी, तब अपने माता-पिता के साथ दूसरे गाँव जाती तो देखती, लाहौर के प्लेटफार्म पर आवाजें आ रही हैं, “हिन्दू पानी मुसलमान पानी”। मैं माँ से जब पूछती कि क्या पानी भी हिन्दू मुसलमान होता है? तब माँ



कहती, “यहाँ होता है, पता नहीं क्या-क्या होता है। तब मैं सोचती क्या सूरज-चाँद भी हिन्दू-मुसलमान होते हैं? ये लोग पानी को जनेऊ कैसे पहनाते होंगे? बड़ी हुई तो देखा कि ये नफरत के बीज जाने किसने इस जमीन पर बोए कि अब क्या पूरब के लोग और क्या पश्चिम के, उनकी जहरीली हवा में साँस लेते हुए तड़प रहे हैं।” बाल्यावस्था में देखी इन घटनाओं को वर्षों बाद जब अभिव्यक्ति मिली तो उनकी कलम से मानवीय संवेदनाओं के अनेक रंग उभरने लगे।

भारत-विभाजन की त्रासदी को अमृता जी ने केवल देखा-सुना या पढ़ा ही नहीं है, बल्कि भुगता भी है। वे कई ऐसी अगवाशुदा स्त्रियों से भी मिलीं, जो गर्भवती स्थिति में होती थीं। कुछ लोग टूटी-विलखती लड़कियों को ला रहे थे। मैंने कुछ एक बार उनके पास बैठकर बहुत-सी वारदातें सुनीं। जाहिर है कि कई लड़कियाँ गर्भवती हालत में होती थीं। हिन्दुस्तान का बँटवारा इतिहास की छाती पर जख्म बनता गया। कोई नहीं जान पाएगा कि देश की कितनी लड़कियों के सपने कत्ल कर दिये गये थे। उन्हीं दिनों मैंने एक उपन्यास लिखा था- ‘पिंजर’, जिसकी कथा बँटवारे से पहले शुरू होती है और बँटवारे के उस मुकाम पर आती है, जब दोनों सरकारें अपनी-अपनी अगवाशुदा लड़कियाँ ढूँढ़ रहे थीं। देश-विभाजन की दर्दनाक घटना को न जाने कितनी ही बहनों ने अपने शरीर पर झेला है। उनके लिए तो आजादी मानो एक हादसा ही बन गयी। ‘पिंजर’ की नायिका पूरो के चरित्र द्वारा लेखिका ने विभाजन की विभीषिका के दुष्परिणामों को ही दर्शाया है। ‘पिंजर’ की भूमिका में ही अमृता जी लिखती हैं, “यह वह उपन्यास है, जो दुनिया की आठ भाषाओं में अनूदित है और जिसकी कथा भारत-विभाजन की उस व्यथा को लिए हुए है, जो इतिहास की वेदना भी है और चेतना भी।”

‘पिंजर’ की नायिका पूरो है, जो गुजरात के जिले के एक गाँव छत्तोआनी के शाहों की बेटी है, जिसका विवाह रत्तोवाल के रामचन्द्र के साथ तय हो चुका है। पन्द्रहवें वर्ष के यौवन की डगर पर पैर रख रही यह मासूम निर्दोष नवयौवना पूरो अपने भावी जीवन के गुलाबी सपने देखने लगती है, “मन ही मन सोचती, यदि उसका मंगेतर आज इधर से गुजर जाए। वह उसे गुजरते हुए एक बार देख ले! पूरो का दिल उस सड़क के किनारे खड़े होते ही धक्-धक्

करने लगता। फिर सारी रात पूरो अपने मंगेतर के स्वप्नों में उतर जाती...” लेकिन पूरो के ये गुलाबी सपने दो मजहबों की उन्मत्त साँड़ों जैसी टक्कर में कुचल दिये जाते हैं। अचानक एक दिन वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे वैमनस्य के कारण मुसलमान रशीद द्वारा अपहरण कर ली जाती है। पूरो के ताऊ ने रशीद की बुआ को जबरदस्ती तीन रातें अपने घर में रखा था। इस बदले की आग में जलते हुए रशीद के चाचा-ताऊ भी कुरान की कसमें दिलवाकर रशीद को पूरो को उठाकर ले आने के लिए विवश कर देते हैं और रशीद भी पूरो को उठा ले आता है। लेकिन पूरो रशीद की चंगुल से निकलकर भागने में सफल हो जाती है, शायद इस उम्मीद में कि उसके घरवाले उसे फिर से अपना लेंगे, पर शायद किस्मत को यह भी मंजूर नहीं। घर पहुँचने पर उसे जन्म देने वाली स्वयं उसकी माँ कहती है- “हम तुझे कहाँ रखेंगे? तुझे कौन ब्याहकर ले जायेगा? तेरा धर्म गया, तेरा जन्म गया। हम जो इस समय कुछ बोलें तो हमारे लहू की एक बूँद भी नहीं बचेगी।” अब पूरो के लिए कोई रास्ता नहीं, कोई मंजिल नहीं, एकमात्र मौत ही उसे एक किनारे लगा सकती थी। लेखिका कहती है- “न माँ ने रोका, न पिता ने, पूरो चलती गई। आते समय पूरो जिन्दगी से भेंट करने आ रही थी, उसके हृदय में लालसा थी जीने की, माता-पिता से मिलने की। बहुत डरती-काँपती आई थी। लौटते समय वह मौत से भेंट करने चली थी। अब उसके मन में कोई डर नहीं था, कोई भय नहीं था। मौत से बढ़कर कोई उसका क्या कर सकता था।” लेकिन मौत भी पूरो के लिए अपना दरवाजा बन्द कर लेती है, क्योंकि सामने रशीद आ जाता है और पूरो चाहकर भी मौत को गले नहीं लगा पाती। तब उसे महसूस होता है- “उसके शरीर पर से सारा मांस उतार लिया गया है, अब वह निरा पिंजर है। उसकी न कोई आकृति है, न सूरत, न कोई मन, न मर्जी।” पूरो अब केवल पत्थर की मूरत बन जाती है, जिसके सारे सपने धूमिल हो जाते हैं। अब उसे न तो भूत की परवाह है, न भविष्य की चिंता। “अब पूरो होनी के हर धक्के लिए तैयार थी।” रशीद पूरो को फिर उठा ले जाता है, उससे निकाह करता है और उसका नाम परिवर्तित कर उसे ‘पूरो’ से ‘हमीदा’ बना देता है। इस तरह पूरो पर अब उसका अपना कोई अधिकार नहीं रहता। पूरो पर अत्याचार

की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। पूरो के न चाहने पर भी वह रशीद के बच्चे की माँ बन जाती है, उसे उस बच्चे से नफरत होने लगती है कि वह उस नरम सफेद कीड़े को अपने से दूर फेंक दे, जैसे कोई चुभे हुए काँटे को नाखूनों में लेकर निकाल देता है। वह उस बच्चे को देखकर सोचती है— “यह लड़का... उस लड़के का बाप... सारी पुरुष जाति... पुरुष... पुरुष! जो स्त्री के शरीर को कुत्ते की हड्डी की तरह चूसते हैं।” लेकिन पूरो चाहकर भी उस बच्चे को अपने से अलग नहीं कर पाती, क्योंकि पूरो अब माँ बन चुकी है और एक माँ कभी अपने संतान की शत्रु नहीं बन सकती। वह सोचती है, “लड़का उसके अपने रक्त का बना हुआ खिलौना था, उसके ही मांस का बना हुआ पुतला। इस भरे-पूरे संसार में यह एक लड़का ही उसका अपना था।”

लेखिका ने पूरो के साथ-साथ कम्मो, पगली, तारा और लाजो जैसे चरित्र को सामने लाकर पुरुषों की पाशविकता, उनकी अमानवीयता, पारिवारिक मूल्यों की टूटन और चिटकन को भी दर्शाया है। इन चरित्रों के सम्पर्क में आकर पूरो का व्यक्तित्व और अधिक गौरवशाली बन जाता है। कम्मो आठ-नौ वर्षीय एक अनाथ बालिका है। उसके माता-पिता की मृत्यु हो गयी है। वह अपने चाचा-चाची के पास रहती है। चाची उसकी बहुत पिटाई करती है। पड़ोस में रहने वाली पूरो उसे पुत्रीवत् स्नेह देती है, उसका माथा चूमती है, उसके आँसुओं को पोंछती है, उसे अपने हृदय से लगाती है और उसका एक मात्र सहारा बनती है।

तारा एक ऐसी युवती है, जिसका विवाह तो होता है, किन्तु वह नाम की ही पत्नी है। उसका पति किसी दूसरी स्त्री को घर ले आया है। इससे तारा अपना मानसिक संतुलन खो चुकी है। उसके मन में यह भावना घर कर गयी है कि, “दो बरस हो गये हैं, रोटी और कपड़े के लिए मैं उसे अपना शरीर बेचती हूँ; देख, मैं वेश्या हूँ... देख, मैं वेश्या...”

इसी तरह गाँव की एक पगली का प्रसंग भी आता है। इस पगली का पात्र काल्पनिक नहीं, वास्तविक है। उसे लेखिका ने विभाजन से पहले शेखपुरा गाँव में देखा था। उपन्यास में यह पगली पूरो के गाँव में रहती है। गाँव का कोई पुरुष उसे अपनी हवस का शिकार बनाता है और वह गर्भवती हो जाती है। उसके धीरे-धीरे बढ़ते उदर को जब पूरो देखती है, तो सोचती है, “जिसके पास न हुस्न था, न

जवानी थी, मांस का एक शरीर, जिसे अपनी सुध न थी, जो केवल एक हड्डियों का पिंजर था, एक पागल पिंजर... चीलों ने उसे भी नोच-नोचकर खा लिया।” जब वह पगली एक पुत्र को जन्म देकर चल बसती है, तो पूरो उस बच्चे को अपना लेती है और उसे अपना पुत्र समझकर पालती है। लड़का पूरो का छोटा पुत्र बनकर पलने लगता है।

देश-विभाजन के ये दृश्य और घटनाएँ जैसे पूरो के मन और मस्तिष्क पर एक के बाद एक प्रहार कर रहे थे। पूरो बीस बरस से अधिक की नहीं थी, किन्तु आयु उसे जो कुछ नहीं सिखा सकती थी, जीवन के कुठाराघातों ने उसे सिखा दिया था। इन कुठाराघातों को सहकर पूरो कटु नहीं बनती। उसके अंतर की चेतना नफरत के दागों को नफरत के पानी से धोने में हल नहीं खोजती। वह विभाजन के दंगों में फँसी एक हिन्दू लड़की को बचाकर उसे उसके परिवार के हाथों सौंप देती है और इन सबसे बढ़कर, वह जो कार्य करती है, वह उसे मानवता के सर्वोच्च शिखर पर बैठा देता है। दोनों देशों की भगायी हुई लड़कियाँ जब अपने-अपने देश में वापस स्वीकार होने लगती हैं, तब वह रशीद की सहायता से अपने भाई की पत्नी लाजो को बचाती है और उसे अपने भाई को सुपुर्द करते हुए कहती है— “चाहे कोई लड़की हिन्दू हो या मुसलमान, जो भी लड़की लौटकर अपने ठिकाने पहुँचती है, समझो कि उसी के साथ पूरो की आत्मा भी ठिकाने पहुँच गयी।”

यद्यपि उपन्यास के प्रारम्भ में रशीद के प्रति पूरो के मन में एक नफरत का भाव तो रहता है, क्योंकि रशीद द्वारा पूरो का अपहरण करने के कारण ही पूरो के सारे सपने, सारी उम्मीदें और सारी कल्पनाएँ चकनाचूर हो जाती हैं, उसकी सारी खुशियाँ रेत की तरह बिखर जाती हैं, सही अर्थों में वह जीना भूल जाती है। लेकिन रशीद की भलमन-साहत देखकर पूरो का हृदय परिवर्तन होता है और वह रशीद को अपना पति मानने लगती है। वह रशीद के मन के भीतर बैठे अच्छे इंसान को देख लेती है। इसलिए जब दोनों देशों की लड़कियाँ अपने-अपने देशों को लौटने लगती हैं, तब पूरो अपने भाई के आग्रह पर भी नहीं लौटती। पूरो का यह अस्वीकार रशीद के साथ बिताए हुए समय का आग्रह नहीं है, पूरो के मन का आग्रह है, उस प्रेम का अंश है, जो मूल्यों और मान्यताओं की ठोस जमीन पर पैदा होती है। स्वयं अमृता जी का मानना है— “मूल्यों

और धारणाओं के बिना जो होता है, वह और चाहे कुछ भी हो, प्रेम नहीं होता।

इस प्रकार पूरो बीस वर्ष की अवस्था तक जीवन के बहुविध कटु अनुभवों को प्राप्त करने के बावजूद भी कटु नहीं बनती, बल्कि हिमालय की गंगा की तरह साफ, पवित्र और उदारमना बन हर उस नारी की रक्षा का कवच बनती है, जो विभाजन की विभीषिका के दुष्परिणामों की भुक्तभोगी है। पूरो 'पिंजर' का एक शक्तिशाली चरित्र है, जिसके सम्मुख बाकी पात्र बौने लगते हैं। घोर निराशा के अन्धकारमयी स्थिति में भी प्रकाशपिण्ड-सा जगमगाता पूरो का व्यक्तित्व अविस्मरणीय चरित्र बन गया है। यह पात्र लेखिका की कल्पना की उपज होने पर भी उसकी सीमा को तोड़कर एक जीवन्त चरित्र बन जाता है। वह अपने अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित भी करता है। लेखिका स्वयं स्वीकार करती हैं- "पूरो की जिन्दगी की घटनाएँ मेरी जिन्दगी की घटनाएँ नहीं हैं, लेकिन पूरो की आत्मा में मेरी आत्मा जरूर है। वह मेरी कल्पना का बेहतर इंसान है।" सन् 2000 का ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली असमिया लेखिका इन्दिरा गोस्वामी कहती हैं- " 'पिंजर' और 'पूरो' मेरे लिए खास महत्व रखते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पिंजर' में विभाजन की विभीषिका ने न जाने कितनी नारियों को अपने स्त्रीत्व की आहुति देने के लिए विवश किया। स्त्रीत्व के इस बलिदान के बाद मानो उसका जीवन से ही नाता टूट गया। विभाजन की पाशविकता की शिकार यह नारियाँ समाज के लिए कलंक तो अवश्य बन गईं। जिस देश की आजादी के नाम पर उनके स्त्रीत्व को लूटा गया, उस देश की मिट्टी अब उन्हें नहीं पहचानती, न माता-पिता उनको स्वीकार करते हैं और न ही धर्म उन्हें अपनाता है। अमृता जी ने इस उपन्यास के माध्यम से यह तथ्य सामने रखा है कि युग-युग से नारी की उपेक्षा की जाती है और कदाचित् नारी विषयक यह पतनशील प्रवृत्ति ही मानवता के ह्रास का प्रबल कारण है। देवी के रूप में उसकी आराधना बहुत की गई है, समर्पित रूप में उसका गुणगान बहुत हुआ है, रमणी के रूप में उसकी प्रशंसा बहुत की गई है किन्तु यह सब ढोंग भर रह गया है। वास्तव में उन सबकी आड़ में

उनका शोषण किया जाता रहा है। लेखिका ने इस उपन्यास के माध्यम से यह प्रश्न खड़ा किया है कि औरत को केवल मात्र 'पिंजर' समझने वाला हमारा समाज भला सभ्य कैसे हो सकता है? उसे हाड़-मांस का पुतला माननेवाली सभ्यता भला सुसंस्कृत कैसे हो सकती है? मर्यादा के नाम पर झूठी नैतिकता की जंजीरों में उसे बाँधनेवाली संस्कृति उच्च कैसे हो सकती है? इस सम्बन्ध में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी जी लिखते हैं- "हमारे देश के शोषितों और पीड़ितों में सिर्फ किसान, मजदूर ही नहीं, हमारी माताएँ और बहनें, पत्नियाँ और बेटियाँ हमारे शोषण और उत्पीड़न की कम शिकार नहीं हैं, जिन्हें दूर किए बगैर हम अपने देश में नयी मानवता की सृष्टि और विकास नहीं कर सकते।" नारी सदियों से अनंत दुःख भोगती आई है और न जाने कब तक भोगती रहेगी। इस तर्क पर सुश्री महादेवी वर्मा का कथन है, "चाहे हिन्दू नारी की गौरव-गाथा से आकाश गूँज रहा हो, चाहे उसके पतन से पाताल काँप उठा हो, परंतु उसके लिए 'न सावन सूखे न भादो हरे' की कहावत चरितार्थ होती रही है। उसे अपने हिमालय को लज्जा देने वाले उत्कर्ष तथा समुद्र तक की गहराई से स्पर्धा करने वाले अपकर्ष दोनों का इतिहास आँसुओं से लिखना पड़ता है और संभव है भविष्य में भी लिखना पड़े।"

इस प्रकार 'पिंजर' नारी चरित्र की आंतरिक ऊर्जा को पूर्णतः व्यक्त करने वाला उपन्यास है और 'पिंजर' की नायिका 'पूरो' अमृता जी की एक अनूठी सृष्टि है जो प्रकाश-पुंज की तरह उपन्यास में आरम्भ से लेकर अंत तक आलोक विकीर्ण करती है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त उपन्यास 'पिंजर' की नायिका 'पूरो' जैसी नारी चरित्र की सृष्टि कर अमृता जी भी खुद को गौरवान्वित महसूस करती हैं और कहती हैं- "जिस तरह पार्वती ने अपने बदन के मैल को बदन के पसीने में गूँथकर गणेश को जन्म दिया था, उसी प्रकार पूरी स्त्री जाति ने अपने बदन को अपने आँसुओं में गूँथकर मुझे जन्म दिया है।" इस तरह जीवन-संघर्ष में आगे बढ़नेवाली पूरो स्वयं अमृता जी के लिए 'फ्रैण्ड', 'फिलॉसफर' और 'गाइड' बन जाती है। इस दृष्टि से 'पिंजर' नारी की वेदना और मुक्ति-चेतना की दारुण व्यथा-कथा है।

संपर्क : 09831121259

## समय से मुठभेड़ करने वाले 'अदम'

डॉ. प्रिया राय

‘भूख के अहसास को शेरों सुखन तक ले चलो  
या अदब को मुफलिसों की अंजुमन तक ले चलो  
जो गजल माशूक के जलवों से वाफिक हो गई  
उसको अब बेवा के माथे की शिकन तक ले चलो।’

अदब को आम आदमी के दुखों-दुश्वारियों से जोड़ने का आह्वान करती ये पंक्तियाँ अदम गोंडवी के चिंता और सरोकार को प्रकट करती हैं। उनकी गजलों में रोमांस नहीं रोटी, इश्क नहीं इंकलाब की बातें हैं। हुस्न, इश्क, बेवफाई, उदासी, रूहानी मसलें जैसे गजल की पारम्परिक भावभूमि से हटकर वह अपने समय और समाज के जरूरी सवालों, सुलगती सच्चाईयों, ठोस समस्याओं को अपनी गजलों में लाते हैं। बिना किसी लाग-लपेट के, पूरी साफगोई और पैनेपन के साथ वह वक्त की हकीकत को बयाँ करते हैं। उनकी गजलों में सिर्फ गरीबी, बेकारी, मँहगाई की मार से आम आदमी के पीड़ा का चित्रण ही नहीं है, लोकतंत्र के छल-छद्म का उद्घाटन भी है। सत्ता-व्यवस्था के अमानवीय, जनविरोधी चरित्र को उजागर करती उनकी गजलें आम जनता को जागरूक-जुझारू बनाते हुए इंकलाब के लिए प्रेरित करती हैं। वह इंकलाब में मुक्ति को देखते हैं, तभी तो वह कहते हैं-

‘नीलोफर शबनम नहीं अंगार की बातें करो  
वक्त के बदले हुए मेआर की बातें करो  
भाप बन सकती नहीं, पानी अगर हो नीम गर्म  
क्रांति लाने के लिए हथियार की बातें करो।’

शोषणविहीन समाज की स्थापना, सबकी खुशहाली, सबकी प्रगति के लिए जनता के पास एक ही रास्ता है- ‘जनता के पास एक ही चारा है बगावत।’ कहना न होगा गोंडवी ‘धरती की ठोस सतह पर’ खड़े अपने ‘समय से मुठभेड़’ करने वाले रचनाकार हैं।

अपनी गजलों के तीखे तेवर और तर्ज के लिए मशहूर अदम गोंडवी का वास्तविक नाम है- रामनाथ सिंह। वह ग्रामीण पृष्ठभूमि-परिवेश से आते हैं, उस गाँव से जो जीवन की तमाम बुनियादी सुविधाओं से वंचित है, जो आजादी के वर्षों बीत जाने के बावजूद आज भी पिछड़ा है। उनकी बोली-बानी, हाव-भाव, भेष-भूषा ठेठ किसानी है। मगर गौर करने की बात है कि अपने गँवई होने को लेकर उनके अंदर कोई हीनता-बोध नहीं है, पूरे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के साथ वह शहरी बुद्धिजीवियों-रचनाकारों से मुखातिब होते हैं-

यूँ खुद की लाश को अपने कंधे से उठाये हैं  
ऐ शहर के बाशिंदों, हम गाँव से आये हैं।

यह एक रोचक संयोग है कि आजाद हिंदुस्तान की सत्ता-व्यवस्था का कच्चा-चिट्ठा खोलने वाले, बार-बार आजादी और जनतंत्र को प्रश्नांकित करने वाले अदम का जन्म उसी वर्ष हुआ, जिस वर्ष देश को आजादी

मिली। 22 अक्टूबर 1947 को उ.प्र. के गोण्डा जिले के आटा-परसपुर गाँव में एक साधारण किसान परिवार में उनका जन्म हुआ। मुश्किल से पाँचवीं-छठी तक शिक्षा मिली। उनका पूरा जीवन गाँव में रहते हुए खेती-किसानी करते बीता। सन् 2012 में उनका देहावसान हुआ। बेहद साधारण पृष्ठभूमि-परिवेश और जीवन वाले गोंडवी की असाधारणता का पता हमें तब चलता है, जब हम उनकी गजलों से रूबरू होते हैं। अपने समय और समाज की साफ समझ, और उसकी असरदार अभिव्यक्ति हमें हैरत में डालती है। दरअसल गोंडवी एकदम ठेठ गँवई-किसानी शायर हैं, साफ-साफ कहने वाले, बिना किसी की परवाह किए आम आदमी के हक की लगातार वकालत करने वाले रचनाकार हैं। बेखौफ और बेबाक। वह बेखौफ और बेबाक जरूर हैं, किंतु वह बेतुकी बात नहीं करते, उनकी गजलें गहन मानवीय चिंताओं और सरोकारों की उपज हैं। एक रचनाकार के रूप में उनकी प्रतिज्ञा है-

*‘मानवता का दर्द लिखेंगे*

*माटी की बू-बास लिखेंगे।’*

आम आदमी के रोजमर्रा के जीवन की तकलीफें उनकी गजलों में बार-बार आती हैं। मसलन भूख, गरीबी, बेकारी, दमन, शोषण। मौजूदा व्यवस्था में चैन-सुकून मुट्ठी भर लोगों को ही है, अधिकांश आबादी तो रोजी-रोटी की जुगत में अपने जीवन को खपा देती है। दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र, उभरती हुई महाशक्ति भारत का एक सच यह भी है कि यहाँ गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर करने वाली दुनिया की सबसे बड़ी आबादी रहती है। सचमुच यह ‘अतुल्य भारत’ है, ‘शाइनिंग इंडिया’! मँहगाई ने स्थिति को और भी भयावह बना दिया है, बढ़ती मँहगाई के इस दौर में आम आदमी का जीना दूभर हो गया है। गोंडवी कहते हैं-

*‘चीनी नहीं है घर में लो मेहमान आ गए*

*मँहगाई की मुट्ठी भर शराफत उबाल दो।’*

आम आदमी बेबस और लाचार है। किंतु आम आदमी के सब्र से जो शांति, वह ज्यादा टिकने वाली नहीं है, उसकी बेचारगी का कभी भी विस्फोट हो सकता है। जो भूख की भट्टी में झुलस रहा हो, उससे व्यवस्था के प्रति वफादार, शांत और शिष्ट होने की उम्मीद रखना बेमानी

है, यदि वह विद्रोही और अराजक बनता है, तो कोई गलत नहीं है, यह स्वभावतः न होकर परिस्थितिजन्य है। गोंडवी कहते हैं-

*क्या गलत है कल को उसकी चेतना बागी बने*

*पल रहा है बचपना जो भूख की अंगार पर।’*

अदम गाँव के रहने वाले हैं। उनकी गजलों में गाँव का आना लाजिमी है। आजाद और लोकतांत्रिक भारत में गाँवों की बदहाली और अंतर्विरोधों का उन्होंने यथार्थ अंकन किया है। जिस देश की आत्मा गाँवों में बसती है, उस देश के गाँव कितने रूग्ण, जर्जर, रूढ़ियों में जकड़े, बुनियादी सुविधाओं से वंचित, द्वेष-कलह में उलझे, अमानवीय स्थितियों से भरे, छिछली राजनीति में डूबे हैं- इसे गोंडवी की गजलों में बखूबी देखा जा सकता है-

*‘किंतु मेरे गाँव का परिवेश ही अभिशप्त है,*

*आम जनता भूखमरी की धूप से संतप्त है।*

*जो सबल है, धर्म-शासन तंत्र उनके साथ हैं,*

*निर्धनों के पास पूँजी उनका अपना हाथ है।’*

या

*‘गाँव जिसमें आज पांचाली उधारी जा रही,*

*या अहिंसा की जहाँ पर नथ उतारी जा रही।*

*हैं तरसते कितने की मंगल लँगोटी के लिए,*

*बेचती है जिस्म कितनी कृष्णा रोटी के लिए।’*

गाँव में पंचायती चुनावों ने स्थिति को और भी खराब कर दिया है। पंचायती राज-व्यवस्था के पीछे मंशा यह थी कि इससे गाँव का सर्वतोमुखी विकास होगा, स्थानीय स्तर पर ही गाँव की समस्याओं एवं जरूरतों का समाधान होगा, साथ ही साथ शासन प्रक्रिया में स्थानीय लोगों की भागीदारी भी बढ़ेगी। किंतु पंचायती चुनावों ने गाँव को जातिगत-दलगत राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बना दिया, फलतः गाँव की शांति एवं सौहार्द छिन्न-भिन्न हो गया, आपसी तनाव-तकरार बढ़ गया। यही नहीं लूट-खसोट के नए तौर-तरीकों का जन्म हुआ। इस व्यवस्था के तहत जो जनप्रतिनिधि चुने गए, जिन्होंने गाँव की विकास की जगह स्वयं का विकास किया। गोंडवी लिखते हैं-

*जितने हरामखोर थे कुर्बो जवार में*

*परधान बनके आ गए अगली कतार में*

*दीवार फाँदने में यूँ जिनका रिकार्ड था*

वे चौधरी बने हैं उमर के उतार में  
फौरन 'खजूर छाप' के परवान चढ़ गई  
जो भी जमीन खाली पड़ी थी कछार में।

गाँव में दलितों की स्थिति आज भी दयनीय बनी हुई है। सर्वणों-समर्थों द्वारा उनका शोषण-उत्पीड़न जारी है। गरीबी और अपमान ने उनके जीवन को नारकीय बना दिया है। सर्वण-दलित के मुद्दे पर पुलिस का रवैया भी प्रायः पक्षपातपूर्ण रहता है, जिन्हें दलितों की सुरक्षा करनी चाहिए, वे सामंतवादी शक्तियों के साथ मिलकर बूट पटककर, डंडा भाँजकर दलितों को सबक सिखाते फिरते हैं। इस स्थिति को गोंडवी ने बड़े मार्मिक ढंग से अपनी प्रसिद्ध नज़्म 'चमारों की गली में' में व्यक्त किया है। सामंती क्रूरता, शोषण उत्पीड़न के पैतरी, लोकतांत्रिक भारत में सामंती प्रवृत्तियों-शक्तियों के साथ पुलिस की गठजोड़-मिलीभगत, भारतीय पुलिस के संवेदनाहीन-गैरजिम्मेदार चरित्र को इस नज़्म में बहुत विश्वसनीय ढंग से दिखलाया गया है। वास्तविक घटना पर आधारित यह नज़्म इस बात का प्रमाण है कि गोंडवी के पास अभिव्यक्ति का खतरा उठाने का साहस है, तथा पक्षधरता उसके प्रति है जो शोषण-उत्पीड़न का शिकार है। स्वयं क्षत्रिय होते हुए गोंडवी ने अपनी जाति-बिरादरी वालों की क्रूरता को बिना किसी लीपा-पोती के जिस तरह उजागर किया है, वह उनके सच्चे जनवादी, वामपंथी होने का प्रमाण है, इसके लिए काफी विरोध एवं मुश्किलें भी झेलनी पड़ीं। गोंडवी किताबी-जुबानी जनवादी-वामपंथी नहीं हैं, वह जमीनी और जोखिम उठाकर जनपक्षधरता को जीने वाले जनवादी-वामपंथी हैं। किताबी, बहसबाज तथाकथित वामपंथियों को उनसे वामपंथ के मायने सीखना चाहिए। यह नज़्म इस नाते भी महत्वपूर्ण है कि दलित रचनाकार द्वारा दलित लेखन एवं गैर दलित रचनाकार द्वारा दलित लेखन का प्रश्न यहां बेमानी हो जाता है। सर्वण होते हुए भी गोंडवी की पक्षधरता किसके प्रति है? और उनके विरोध के निशाने पर कौन है? यह हमें देखना चाहिए। एक और बात के कारण भी यह नज़्म रेखांकित की जानी चाहिए, जो गोंडवी के सच्चे जनवादी मन-मिजाज, चरित्र से जुड़ी हुई है। नज़्म में आई बलात्कार की शिकार कृष्णा को गोंडवी 'सरयू पार की मोनालिसा' कहते हैं। इस तरह गोंडवी गाँव की एक अनपढ़ गँवार,

दीन-हीन घसियारिन को मोनालिसा कहकर बुर्जुआ सौन्दर्य प्रतिमानों को खारिज करते हैं और सौन्दर्य के एक नये जनवादी प्रतिमान को गढ़ते हैं। गोंडवी के जनवाद का एक पक्ष यह भी है। खैर, गोंडवी ने जिस गाँव को अपनी रचनाओं में दिखलाया है, वह ग्राम्य विकास के सरकारी दावों-प्रचारों की पोल खोलता है, वह ठीक ही कहते हैं-

'तुम्हारी फाइलों में गाँव का मौसम गुलाबी है  
मगर ये आँकड़े झूठे हैं, ये दावा किताबी है।

गोंडवी की गजलों में राजनीतिक चेतना भी खूब है। स्वतंत्रता से सुराज और समृद्धि के जो सपने देखे गए, वह आजादी के कुछ ही वर्षों बाद बिखरने लगे। शासक तो बदले किंतु सत्ता का चरित्र नहीं बदला।

इस लोकतंत्र में मुट्ठी भर लोग तंत्र पर काबिज होकर सारी सुख-समृद्धि भोगते रहे, बाकी अधिकांश जनता हाशिये का जीवन जीती रही। ऐसा नहीं है कि आजादी के बाद तरक्की नहीं हुई, तरक्की तो हुई किंतु आधी-अधूरी, इस तरक्की से एक बड़ा तबका वंचित रहा। गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, बीमारी जैसी समस्याएँ बरकरार हैं। गोंडवी पूछते हैं-

सौ में सत्तर आदमी फिलहाल जब नाशाद हैं  
दिल पे रखकर हाथ कहिए देश क्या आजाद है।'

देश में विद्यमान मौजूदा अराजकता-बदहाली के लिए जिम्मेदार राजनीति है। हमारे राजनीतिज्ञों ने सारे मूल्यों-सिद्धांतों को ताक पर रखकर राजनीति को स्वार्थ पूर्ति का साधन बना लिया। देश-समाज के लिए उनके पास न तो कोई नीति है और न ही नीयत-

'उधर जम्हूरियत का ढोल पीटे जा रहें वो  
इधर पर्दे के पीछे बर्बरीयत है, नवाबी है  
तुम्हारी मेज चाँदी की तुम्हारे जाम सोने के  
यहाँ जुम्मन के घर में आज भी फूटी रकाबी है।'

राजनीति दिनोंदिन मूल्यविहीन, जनविमुख होती गई। धन-बल, बाहुबल का वर्चस्व बढ़ा। कहना न होगा राजनीति अपराधियों, कालाबाजारियों के लिए सुरक्षित ठिकाना बन गयी है। हमारे जन प्रतिनिधियों को आम जनता के दुख-दर्द की कोई चिंता नहीं है, सत्ता उनके लिए स्वसुख का साधन है, सेवा का नहीं। राजनीति में व्याप्त कल्मष की ओर संकेत करते हुए गोंडवी ने लिखा है-



‘काजू भूने प्लेट में, व्हिस्की ग्लास में  
उतरा है रामराज विधायक निवास में  
पक्के समाजवादी हैं तस्कर हो या डकैत  
इतना असर है खादी के उजले लिबास में।’

हमारे यहाँ ही सत्ता व्यवस्था सिर्फ आश्वासन देती है, घोषणा करती है, जन समस्याओं के समाधान के लिए वह कोई ठोस और ईमानदार कोशिश नहीं करती। लोकतंत्र लूटतंत्र में तब्दील हो गया है, विकास और सुशासन सिर्फ भाषणों में सुनाई पड़ता है, जमीनी धरातल पर नहीं। संसद की कार्यवाहियों के दौरान हमारे माननीयों का जो व्यवहार रहता है, वह इस बात का प्रमाण है कि हमारे राजनीतिज्ञ कितने विचारशून्य, अदूरदर्शी, गैरजिम्मेदार हैं। गोंडवी लिखते हैं—

‘खोखले नारों की शबनम से वो बुझ पाएगी क्या  
जिसके होठों पर मुकम्मल इक सदी का प्यास है  
क्या किया दिल्ली ने उन खानाबदोशों के लिए  
सर्दियों में जिनके सर पे छत खुला आकाश है।  
चंद सिक्कों के एवज में ईमान बेचा जा रहा  
ये हमारे देश की संसद है या नख्खास है।’

हमारे राजनीतिज्ञों ने सिर्फ लूट-खसोट ही नहीं किया, घृणा और हिंसा की राजनीति को भी खूब बढ़ावा दिया। क्षेत्र, जाति, धर्म, भाषा के नाम पर उन्होंने समाज को विभाजित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। राजनीतिज्ञों के द्वारा उपजाई गई सांप्रदायिकता ने देश-समाज का बहुत अहित किया। इससे भारतीय समाज को ऐसे गहरे जख्म मिले जिनसे उबरने में सदियाँ बीत जाएँगी। विघटनकारी राजनीति पर चोट करते हुए गोंडवी लिखते हैं—

‘हिंदू या मुस्लिम के अहसासात को मत छेड़िये  
अपनी कुर्सी के लिए जज्बात को मत छेड़िये  
छेड़िये एक जंग, मिल-जुलकर गरीबी के खिलाफ  
दोस्त, मेरे मजहबी नग्मात को मत छेड़िये।’  
वास्तव में गोंडवी ‘समय से मुठभेड़’ करने वाले

रचनाकार हैं। सच्चे अर्थों में जनवादी और वामपंथी। उनकी कविता प्रतिपक्ष की कविता है। अन्याय, शोषण, लूट-खसोट आडम्बर के वास्तविक संदर्भों पर केंद्रित उनकी रचनाएँ लोक-शिक्षण का काम करती हैं, जिससे एक संघर्षशील लोक-चेतना निर्मित हो। गौरतलब है कि संवादधर्मिता उनकी रचनाओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उनकी रचनाओं से गुजरते हुए हमारा मौजूदा समय और समाज के अंतर्विरोधों से साक्षात्कार होता है, उनकी रचनाएँ जनवादी मूल्यों को बनाए-बचाए रखने के लिए जुझारू बनने की अपील करती हैं। उनकी आडम्बरविहीन रचनाओं में यथार्थ की खरी पड़ताल है। उर्दू कविता के छंद-विधान के अनुसार गोंडवी की गजलों में खामियाँ भले हों, किंतु समकालीन यथार्थ बेबाक एवं धारदार प्रस्तुति उनकी गजलों को असरदार बनाती है। इसी वजह से गोंडवी खूब लोकप्रिय हुए, वह खूब सुने गए और सराहे गए। लेकिन मंचीय लोकप्रियता के कुछ खतरे भी होते हैं। मंचीय लोकप्रियता ने गोंडवी के लेखन को लगभग ठप्प सा कर दिया, नया लिखने-कहने की जगह वह पुराने को ही दुहराने लगे। खैर, दुष्यंत ने हिंदी गजल को यथार्थ बोध से जोड़ जो प्रखरता और लोकप्रियता दी थी, गोंडवी के यहाँ उसका विस्तार होता है। एक गजलकार के रूप में गोंडवी की खासियत को उनकी ये पंक्तियाँ बखूबी बयाँ करती हैं—

मेरी नज़्मों में मशीनी दौर का अहसास है।

भूख के शोलों में जलती कौम का इतिहास है।।

गोंडवी अपनी गजलों में सत्ता-व्यवस्था के जनविरोधी पैतारों, आभिजात्य वर्गीय पाखण्डों, सामंतवाद-पूंजीवाद के मनुष्य विरोधी प्रवृत्तियों, फिरकापरस्ती इत्यादि से मुठभेड़ करते हैं जिसने आम आदमी के जीवन को दयनीय बना दिया है, उसे हाशिये पर ढकेल दिया है। और कहना न होगा यही मुठभेड़ ही गोंडवी को हमारे दौर का महत्वपूर्ण शायर बनाता है, अदम को अदम बनाता है।

## शर्म : एक सर्जनात्मक भाव

डॉ. राजीव कुमार वर्मा

“आदमी इकलौता जानवर है जो शर्माता है; या जिसे शर्मने की जरूरत पड़ती है।”  
मार्क ट्वेन

आज का दौर घोर बेशर्मी-बेहयाई का दौर है। अब कोई भी अपनी भूल-गलती पर पछताता नहीं, पश्चाताप नहीं करता। फलतः हमारा जीवन और परिवेश दिनोदिन विद्रूप होता जा रहा है। वैश्वीकरण-बाजारीकरणजन्य विवेक शून्यता, अंतहीन भौतिकता ने स्थिति को और भी बदतर और जटिल बनाया है। दरअसल ‘शर्म’ विवेक से जुड़ा ऐसा भाव है, जो आत्मालोचन द्वारा सुधार-परिष्कार के लिए प्रेरित करता है, हमें उदार और मानवीय बनाता है। मगर अफसोस यह सर्जनात्मक भाव दिनोदिन लुप्त होता जा रहा है। यह एक चिन्ताजनक स्थिति है। इसी चिन्ता की रचनात्मक परिणति है बलराज पाण्डेय का काव्य-संग्रह ‘लोग शरमाना भूल गए हैं’। कवि सिर्फ चिन्ता नहीं करता, इस आत्मघाती प्रवृत्ति-स्थिति के प्रति वह पाठक को चेताता भी है। जितनी वाजिब कवि की चिन्ता है, उतनी ही असरदार उसकी यह कोशिश भी।

बलराज पाण्डेय के लिए कविता महज कविताई के लिए नहीं है, अपितु जीवन-जगत से जुड़ाव, पक्षधरता और प्रतिरोध की एक दायित्वपूर्ण प्रक्रिया है। उन्हीं के शब्दों में-

‘इनकार के अपार साहस से तर-ब-तर / कविता/मनुष्य के जायज दुख की/सहज-संघर्षमय अभिव्यक्ति है/जमीन से जुड़ी/गिर-गिर कर उठती जिंदगी/उसकी असली शक्ति है।’

और कहना न होगा, ये पंक्तियाँ इस संग्रह की कविताओं पर पूरी तरह चरितार्थ होती हैं। इस संग्रह की पहली कविता ‘सबसे बड़ा खतरा...’ में कवि अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहता है-

‘वे /जिन्दगी भर हमें पढ़ाते रहे/अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने होंगे/और जब हमने/थोड़ा-सा खतरा उठाया/तो पाया/वे खुद हमारे विरुद्ध/सबसे बड़ा खतरा बनकर खड़े हो गए हैं/कँटीले तारों की बाड़ की तरह।’

यह वही पक्षधरता है जिसके तरह कवि स्वयं वर्चस्व, स्वार्थ शोषण, दमनकारी सत्ता, अत्याचार, अन्याय के सामने ‘कँटीले तारों की बाड़ की तरह’ खड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। यह कविता उनके व्यक्तित्व का ही जिन्दा हिस्सा है। इस कविता में कवि दोहरे चरित्र एवं व्यक्तित्व वाले लोगों के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ा दिखाई पड़ता है। इसी तरह ‘कुर्सी और दमी’ कविता में कवि ने उच्च पदों पर विराजमान व्यक्तियों पर कटाक्ष करते हुए लिखा है-

‘जब भी/कुर्सी पर होता है आदमी/आदमी नहीं, कुर्सी हो जाता है।’

वास्तव में आज मनुष्य अपनी पहचान अपने व्यक्तित्व से नहीं, अपितु कुर्सी के आधार पर निर्मित कर रहा है- अमानवीय एवं असंवेदनशील। ‘आना महामहिम का’, ‘हवा में महामहिम’, ‘यह कैसा राज’, ‘एक रहस्यमयी सहमति’, ‘निरापद निश्चित वे’, ‘स्वागत’, ‘दिल्ली’, ‘जै श्रीराम’ शीर्षक कविताओं में सत्ता-

व्यवस्था के हिंसक, अमानवीय दोहरे चरित्र का पर्दाफाश किया गया है। 'आना महामहिम का' शीर्षक कविता में कवि ने नेताओं के झूठे वायदे एवं समाज सेवक बनने के ढोंग पर व्यंग्य करते हुए लिखा है- 'सेवक बन जब भी वे/ चेहरा दिखाते हैं/लाखों करोड़ों का/चूना लगाते हैं'

अपनी धार और मार में 'दिल्ली' कविता बेजोड़ है। दिल्ली सिर्फ सत्ता का केन्द्र ही नहीं, देश को, जनता को छलने, ठगने, लूटने, नोचने की साजिशों की भी केन्द्र है। 'इण्डिया' की खुशहाली, 'भारत' की बदहाली से है और इसकी जिम्मेदार दिल्ली है। और मजेदार यह है कि सब कुछ लोकतांत्रिक, समाजवादी, लोककल्याणकारी राज्य के आवरण में इतनी सफाई और सभ्य ढंग से होता है कि दिल्ली पर कोई आँच नहीं आती।

'भद्र व्यक्ति', 'बड़ा आदमी' में वे तथाकथित 'एलीट' वर्ग के छल-छद्म-पाखण्ड से भरे असली चेहरे और चरित्र को उजागर करते हैं। 'गुरु के लिए' 'मास्टरी' कविता में कवि ने मूल्यहीन, खुदगर्ज गुरुओं का मुखौटा उतारा है, यह इस नाते भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि कवि स्वयं एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में आचार्य हैं। उन्होंने गुरुओं पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-

'गुरु के लिए दातून लाता है विद्यार्थी/ और खुद दातून बन जाता है,/ ..... /गुरु के लिए टिकट लाता है विद्यार्थी,/ और/ खुद टिकट बन जाता है,/ घूमने और सिर्फ घूमते रह जाने के लिए।'

हम इतने आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी होते जा रहे हैं कि रिश्तों की सहज आत्मीयता व्यवसायिकता में तब्दील हो गई है। हर कोई, अपनी फिराक में, एक-दूसरे का इस्तेमाल करते हुए अपनी गणित बैठा रहा है। इस सच को 'अपनी गोटी', 'सब कुछ अपना', 'लोग शरमाना भूल गए हैं', 'प्रीति के बहाने' कविताओं में देखा जा सकता है। 'अपनी गोटी' शीर्षक कविता में कवि कहता है-

'हमारे समाज में/हर आदमी/कोई न कोई/ अपनी गोटी फिट कर रहा है/इसी चक्कर में वह/परिजनों को कौन कहे/स्वजनों को भी/चिट कर रहा है।'

'विनीत सौन्दर्य तुम्हारा', 'तुम्हारे क्षणिक स्पर्श से', 'ढाई आखर', रोमांटिक भाव-बोध की कविताएँ जरूर हैं,

पर यहाँ भी कवि के जनवादी सरोकार धुंधलाते नहीं हैं, त्रिलोचन, नागार्जुन की प्रेमपरक कविताओं की तरह। 'शब्द' शृंखला की कविताओं में उन्होंने शब्दों का जैसा बखान किया है, वैसा ही इन कविताओं में शब्दों का इस्तेमाल भी है। जितनी बेखौफ उनकी पक्षधरता है, उतनी ही शब्दों में उनकी गहरी आस्था भी है। उनकी मान्यता है-

'शब्द आग उगलते हैं/शब्द भाग्य बदलते हैं/ शब्दों में समाता है ईश्वर/समझ-बूझ/ शब्दों को स्वीकारें आप अगर/ तो शब्दों से छल नहीं हो सकता/जिस दिन चुक जाएँगे शब्द/हमारी मुश्किलों का /कोई हल नहीं हो सकता।'

इसी भरोसे के दम पर वे खतरनाक स्थितियों से जूझने के लिए कलम उठाते हैं। 'लड़की' शृंखला की कविताओं में एक लड़की के विभिन्न रूपों को दर्शाया गया है। पिता के लिए बोझ बनी हुई लड़की शादी के बाद पति और पुत्र के घर में काम करती हुई खत्म हो जाती है। जिंदगी भर उसे पुरुष के अधीन होकर ही रहना पड़ता है। कवि ने लिखा है-

'जनम ले पिता के घर/जनम दे पति के घर/ पुत्र के घर में खटती हुई/खतम हो जाती है लड़की।'

'जरूरी सबक', 'शायद कल से' शीर्षक कविताओं में एक औरत अपने बेटे, बेटी एवं पति के लिए किस तरह अपनी खुशी को न्यौछावर कर देती है, इसका बहुत ही मार्मिक चित्रण किया गया है। इस संग्रह की कविताओं में गहन सामाजिक सम्पृक्ति के साथ ही कवि के जीवन के कुछ निजी पहलू भी हैं। असमय मृत्यु के कारण पिता के वात्सल्य से वंचित कवि की पीड़ा 'जब मैं जनमा था' कविता में बहुत ही मार्मिक ढंग से व्यक्त हुई है।

इस संग्रह की यह खासियत है कि तमाम खतरनाक स्थितियों, विद्रूपताओं के बावजूद यहाँ जीवन और जगत को बेहतर-सुन्दर बनाने का अरमान है। 'एक रहस्यमयी सहमति' में कवि कहता है-

'अपनी दुनिया संवरने के लिए/जिंदा हैं हम, हमारे अरमान/अपने हालात से जूझता/जिंदा है जैसे/देश का हर सच्चा इंसान।'

और यहाँ सिर्फ अरमान ही नहीं, आह्वान भी है। 'समय कितना खतरनाक है' इस कठोर सच को कवि

कभी भूलता नहीं है, पर उसके अंदर भी 'खतरनाक आज' को 'खूबसूरत कल' में बदलने की जिद, जुनून है। 'बुश और बॉस' शीर्षक कविता में वे आह्वान करते हैं—

'तुम अब भी चेतो साथी/अपनी चुप्पी तोड़ो/ लोगों को नए सिरे से जोड़ो/शायद फैसले का वक्त भी/ अब बहुत-बहुत करीब है।'

इतना ही नहीं सोने वाले को भी जगाना होगा क्योंकि—  
'ओ! सोने वालो!// समय बहुत सख्त है/ तुम्हारे जागने का/यही सही वक्त है।'

'लोग शरमाना भूल गए हैं' कविता संग्रह में पाण्डेय जी ने अपनी कविताओं के साथ-साथ कुछ गीतों को भी स्थान दिया है। गेयता के साथ स्वयं के सुख-दुःख एवं भावनाओं की तीव्रता गीत की अनिवार्य शर्त होती है। परन्तु पाण्डेय जी ने इन शर्तों को पूर्णतः पालन न करते हुए सामाजिक, राजनीतिक एवं जीवन की विद्रूपताओं को ही स्थान दिया है। इन गीतों में 'डालर राज का शोर', 'आज घर में', 'गाँव में', 'डंकल का धावा', 'डंकल जी', 'जाड़ा अबकी बार', 'एक किरन', 'बीसवीं सदी' आदि महत्त्वपूर्ण

हैं।

इस कविता संग्रह में बड़बोलेपन और अतिरेकों से बचते हुए यहां बहुत ही संयम एवं समझदारी के साथ अपने समय और समाज की शिनाख्त की गई है। समझ और संवेदना का संतुलन साधने में कवि सफल रहा है। यहां बेतरतीबी और बिखराव नहीं है। कलात्मक बाजीगरी नहीं, कथ्य और कहन दोनों धरातल पर साफगोई है। कविताएँ पारदर्शी, सरल और सहज हैं। आम बोलचाल की भाषा में, व्यंग्यात्मकता, नाटकीयता, वाचिक लय, और मुहावरेदारी के गुणों से युक्त। अपने तेवर और सरोकार की दृष्टि से पाण्डेय जी नागार्जुन आदि जनवादी कवियों की परंपरा में आते हैं। उनकी कविताओं में असहमति, अस्वीकार, आक्रोश के स्वर हैं, आम आदमी की पक्षधरता है, पुरुषसत्तात्मक समाज में पिसती-घुटती नारी की पीड़ा है, मजदूरों-किसानों का दर्द-संघर्ष है, मानवीय रिश्तों की गर्माहट है। इन कविताओं में सादगी का सौन्दर्य है। यहाँ कलात्मकता नहीं, प्रतिरोध और पक्षधरता का सवाल ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। कविताएँ छोटी जरूर हैं, मगर असरदार हैं।

#### संपर्क :

मालवीय मूल्य अनुशीलन केंद्र  
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी  
मो. 09415822643

## हिन्दी कहानी: पाठ और समीक्षा

रविकांत

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग  
लखनऊ विश्वविद्यालय

कहानी आधुनिक काल की सर्वाधिक प्रचलित विधा है। आज यह सर्वाधिक लोकप्रिय विधा भी है। कारण यह है कि कहानी मनुष्य के हृदय के सबसे करीब है, और हर युग में यह मनुष्य के शगल में शामिल रही है। वस्तुतः कहानी मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है। कहानी कहना और सुनना मानव जीवन का हिस्सा रहा है। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि 'जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अन्तर्गत है उसी प्रकार कथा-कहानी कहना और सुनना भी।' कहानी का उद्देश्य आज मनोरंजन करना नहीं है बल्कि यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में गतिशील रहता है इस प्रक्रिया से मनुष्य चेतना सम्पन्न बनता है। मनुष्य की चेतना और चिंतन समाज सापेक्ष होता है। समाज के प्रति मनुष्य की संवेदना उसे बौद्धिक, विवेकशील और उत्तरदायित्व से युक्त बनाती है।

आधुनिक हिन्दी कहानी का आरंभ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। 20वीं शताब्दी के पहले दशक में कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 1915 ई. में प्रकाशित चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' बहुत चर्चित हुई। यह वही पड़ाव है जहाँ से हिन्दी की आधुनिक कहानी का वास्तविक विकास प्रारंभ होता है। इसी वर्ष प्रेमचंद की पहली कहानी 'सौ' 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई। 1916 में प्रेमचंद की सात कहानियों का संकलन 'सप्तरोज' प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखी। प्रेमचंद के समकालीन कहानीकारों में जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन, विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' प्रमुख हैं।

हिन्दी समीक्षा के प्रारंभिक दौर में काव्य केन्द्र में था। गद्यलेखन पर आलोचना की शुरुआत रामचंद्र शुक्ल के द्वारा हुई। शुक्ल जी के यहाँ वैज्ञानिकता, वस्तुनिष्ठता और इतिहासबोध सचेत ढंग से दिखाई देता है। हिंदी की प्रारंभिक कहानियों की समीक्षा करते हुए आचार्य शुक्ल ने उन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया है। पहले वर्ग में अत्यधिक काल्पनिक रहस्य, रोचकपूर्ण और घटना प्रधान कहानियाँ हैं और दूसरे वर्ग में जन-जीवन से जुड़ी हुई यथार्थपरक मार्मिक कहानियाँ आती हैं। दूसरे वर्ग की कहानियों को शुक्ल जी ने आधुनिक भावबोध की कहानियाँ कहा है, आचार्य शुक्ल के इतने वैज्ञानिक और सुस्पष्ट समीक्षा सिद्धांत के बावजूद दुर्भाग्य से कहानी समीक्षा में कोई मूलभूत विकास होता नहीं दिखायी देता है।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे, चौथे दशक में कहानी समीक्षा का वही 'पैटर्न' लागू किया गया जो नाटक और उपन्यास आदि के लिए था। अर्थात् कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, देशकाल और वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य, इन छः तत्वों के आधार पर कहानी की समीक्षा होती थी। कहानी समीक्षा का निर्णायक दौर, 1950 के बाद नई कहानी आंदोलन में दिखाई देता है। नई कहानी आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसने अपने समीक्षक पैदा किए। नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी, राजेंद्र यादव आदि आलोचकों ने परंपरागत समीक्षा सिद्धांत को छोड़कर नए कहानी मूल्यों को प्रस्तुत किया। इन मूल्यों में कथ्य और शिल्प के साथ वातावरण की वास्तविकता और लेखक की वैयक्तिकता का तालमेल दृष्टिगोचर होता है।

नई कहानी आंदोलन के साथ जिस समीक्षा पद्धति की शुरुआत हुई, वह लंबे समय तक जारी रही। पिछले तीन दशकों में साहित्य के समक्ष तमाम चुनौतियाँ आई हैं। 'विचारधारा के अंत' से लेकर 'इतिहास का अंत'

और 'लेखन की मृत्यु' जैसी उत्तर-आधुनिक घोषणाओं के कारण साहित्य और उसकी आवश्यकता संदेह की जद में आ गए। इस चुनौती का सामना 'प्रतिरोध के नए हथियारों' से किया गया। लेखक स्वयं पाठकों से रू-ब-रू हुआ।

कहानीकारों ने भी अपनी कहानियों का पाठ, अनुभव और व्यंजना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की। इस प्रक्रिया ने पाठ के महत्व को उजागर किया। कहानी आलोचना का यह एक नया पहलू था।

हिंदी आलोचना ने पाठ की भूमिका में नए सूत्रों की बुनियाद डाली। आलोचना की विभिन्न पद्धतियों या प्रकारों में अर्थ की अनंत संभावनाएं रहती हैं। क्या पाठ को लेखक से बिल्कुल स्वतंत्र मानना चाहिए? अथवा क्या पाठ में निर्धारित लेखक का अर्थ ही वास्तविक हैं? साहित्य की विश्वसनीयता के लिए यह भी जरूरी लगा कि लेखक स्वयं अपनी संवेदना और अर्थवत्ता को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करे। पाठ से ही समीक्षा जुड़ती है क्या समीक्षा के लिए केवल पाठ ही जरूरी है अथवा कुछ और मूल्य हो सकते हैं जो समीक्षा की मांग को पूरा करते हैं।

कहानी समीक्षा के लिए पाठ के साथ-साथ उसके समाजशास्त्र, इतिहास दृष्टि और प्रतीकात्मकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इन तत्त्वों के आधार पर कहानी की संपूर्ण अर्थवत्ता की तलाश की जा सकती है। वस्तुतः आलोचना का संबंध उस सृजनात्मक दृष्टि (क्रिएटिव विजन) की पहचान से होता है जो अपने युग के मर्म को बेधने के साथ अपने युग की मनोगत और वस्तुगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ होती है। इसका एक पक्ष ऐतिहासिक परिदृश्य अथवा पर्सपेक्टिव की पहचान भी है।

ऐतिहासिक परिदृश्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि कहानी के पाठ को व्यापक संदर्भ में देखने की स्वतंत्रता प्रदान करती है। समकालीन विषयों पर लिखी गई कहानियों को समाजशास्त्रीय पद्धति से देखना जरूरी है। जबकि प्रारंभिक कहानियों को न सिर्फ समाजशास्त्रीय ढंग से बल्कि ऐतिहासिक

परिदृश्य में रखकर देखा जाना चाहिए। कुछ पुरानी और आज की कहानियों में ऐसी कहानियाँ हैं जिनके प्रतीकों की व्याख्या के बिना कहानी की समीक्षा अधूरी है। मसलन प्रेमचंद की 'दो बैलों की कथा', 'स्वत्व रक्षा' और 'अधिकार चिंता' जैसी कहानियों की समीक्षा समकालीन संदर्भों के साथ-साथ प्रतीकों के सहारे ही संभव है। इस लिहाज से ये कहानियाँ स्वाधीनता आंदोलन और आम आदमी के जीवन की बड़ी सजग और यथार्थपरक ठहरती हैं। इसी प्रकार प्रेमचंद की दलित जीवन से संबंधित कहानियाँ आज पुनर्पाठ की माँग करती हैं।

वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिकता के शोर के बीच हिंदी साहित्य में विमर्शों की हलचल उत्साहवर्धक है। विमर्शों के परिवेश में समीक्षा के प्रतिमान छीजने लगे हैं। यह बहस अब 'कहानी: नई कहानी' से आगे बढ़ चुकी है और ऐसे आलोचकों के दिमाग से भी फिसल चुकी है लेकिन वे हैं कि अब भी धवल धोती का छोर मुट्ठी में दबाए डग भरते हैं मानो वे ही वामन के अवतार हैं। आज सांस्कृतिक जड़ता और रूढ़िवादी अंधता प्रेमचंद के जमाने की नहीं है। लेकिन निश्चित रूप से शोषण अभी समाप्त नहीं हुआ है। जातिवादी हथकंडे, भेदभाव, अनाचार आज भी बदस्तूर जारी है। समाज में कुछ और सवाल मुखर हुए हैं। कभी सांप्रदायिकता संस्कृति की आड़ में आती थी, आज बड़ी बेशर्मी से सांप्रदायिक कस्मे वादे निभाए जा रहे हैं और यह सत्ता हासिल करने का सुगम रास्ता बन रहा है। इसीलिए प्रेमचंद के जमाने की तरह संघर्ष और प्रतिरोध की जरूरत आज भी है लेकिन प्रतिरोध के हथियार बदल गए हैं। आज सहानुभूति की जगह स्वानुभूति का आग्रह आ गया है। सहानुभूति की सहृदयता के स्थान पर अब आगोश और अस्तित्व की तलाश तीव्र हो उठी है। इसीलिए आज की कहानियों की समीक्षा और उनका मूल्यांकन भी इन्हीं मानदण्डों से होना चाहिए।

संपर्क : 09451945847



## ओम भारती

बहुआयामी व्यक्तित्व है कवि ओम भारती का, साहित्य के विभिन्न विधाओं पर उन्होंने अपनी लेखनी चलाई और सफल भी रहे हैं। कविता से शुरू कर पत्रकारिता तक की यात्रा को उन्होंने बखूबी निभाया है। आपका जन्म 1 जुलाई 1948 को मध्य प्रदेश के इटारसी क्षेत्र के एक साहित्यिक परिवार में हुआ। पेशे से प्रशासनिक पदों में रहते हुए भी साहित्य संसार से अभिन्न रहे हैं। पिछले चार दशक से देश की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ, आलेख, कहानियाँ एवं समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही हैं। 'रचना-क्रम', 'दशकारंभ', 'साहित्य स्पर्श', 'पल प्रतिफल' तथा 'समय के साखी' के सम्पादन में आपकी विशिष्ट सक्रियता रही है। कविता की दुनिया में आपका सफर 'कविता की आँख' (1989), से शुरू होकर, तदन्तर 'इस तरह गाती है जुलाई' (1993), 'जोखिम से कम नहीं' (1995), 'पटरियों की कविता' (2013) और 'इतनी बार कहा है' (2014) तक पहुँचा है।

## सच के लिए

सच न बोलने के लिये  
क्षमा किया जाये मुझे  
मैं सच बोलने के वादे से आया था  
गाँधी के गुजरने के बाद पैदा हुआ मैं  
और सच-वक्ता मुझे  
ज्यादा नहीं मिले!  
पहले अधिक लोग अभ्यस्त सच के  
रहे होंगे, और कहना-सुनना  
दोनों ही शामिल  
सच बोलना संभव किया जाता होगा  
या तत्कालीन शासक कृतहस्त होंगे  
गुलामों के मुँह से सच निकलवा लेने में  
बासठ बरस बीते साम्राज्य को सिमटे हुए  
जो मुक्त हैं उनसे कोई कैसे बुलवाये सच  
क्या पड़ी मुझे कि चलन के प्रतिकूल चलूँ  
और नागरिक-कोष से प्राप्त करूँ अपशब्द  
हरिश्चंद्र की औलाद!  
बापू का बंदर!  
ईमानदारी का पुतला!  
या ऐसा ही यथा अर्थ यथार्थ  
मैं राजनीति में नहीं  
और सच बोल सकता हूँ  
मैं वाणिज्य से भी नहीं

सच खोल सकता हूँ  
अर्थविद नहीं मैं कि सच मुझे सलज्ज करे  
न ही मैं हूँ सी ई ओ, सी जे या एम डी  
न चला रखे मैंने एन जी ओ दस-पाँच  
कविता ही लिखी इन बयालीस वर्षों में  
और लिखना भी मुझमें विलायती में न हुआ  
मैं सच कहने का सहूलियत ले सकता हूँ  
संचार माध्यमों के जो नहीं है, उनके लिये  
सच को बताना कठिन नहीं होना चाहिए  
सादा और हिचक से असंयुक्त सच का सच  
साठ बारिशों से ऊपर के  
सच बोल सकते हैं  
पर सच कहने का जुर्म न कराइये मुझसे  
कोई नहीं करे वह कर सकता हूँ मैं मगर  
निरुपाय नहीं हूँ कि बोलना ही पड़े सच  
मैं इंकार नहीं करता कि सच अच्छी शै है  
उसमें बुनियादी कमी, बुजदिली नहीं होती  
पर उसमें पैसा का रॉ पावर तो नहीं है  
कोई भी तो करता नहीं तरफदारी सच की!  
वह आजकल व्यवहार योग्य भी नहीं रहा  
वह अनागत के स्वप्नों में आवाजाही करने के  
हमारे इन इरादों के सामने आ जाता है  
अतीतहीन होने में पचवर फँसाता है

### अच्छे रंग अंकोच में रहे आये

क्षीण का रंग तो पिटा हुआ पीला है,  
पीठ उसकी धारियोंदार और नीली-सी  
पर उसकी रंगों में है शानदार रंग  
उसके पाले में रहकर ही रंग कुछ  
अपने दौर के देखे हैं मैंने  
मेरा प्रिय रंग अब भी मलिन नहीं  
हालांकि फैला है झूठ उसे लेकर  
बढ़े चले आते थे नये रंग  
जिस तरह तरंगे आती हैं  
भरते थे चौकड़ी  
कुरंग हो कनक के  
बाद में कुछ सचमुच कु-रंग निकले  
रजत ने भले ही रंगत दी उन्हें  
असंगत रंगों का चक्का घुमाकर  
असंयत गतियों में, और प्रश्न दागा  
बताओ कौन-सा रंग है ?  
उजाले में होकर ही आते रहे रंग  
जो अँधेरे में छूटा, रंगहीन हुआ

### सीधी लकीरों में

स्कूलों में सिखाते रहे सीधी लकीर खींचना  
फुट पट्टी के सहारे, सीधा हाशिया छोड़  
सीधे अक्षर बनाना  
बाहर वह काम नहीं आया  
बस्ती में घर जाते हुआँ को देखो  
घूमकर जाते हैं  
बात भी करते हैं घर में तो घुमाकर  
सीधे सीधे न नहीं करते और न ही हाँ  
टोपी तिरछी अदा से जो पहनी तो ऐसे लोग  
सीधी, सफेद वालों से अधिक आदर पा गये  
जीवन अभिनय से प्रतिस्थापित हो रहा  
यथा संभव-शीघ्र भूलो स्कूलों को पढ़ा

क्योंकि हिंसा की भाँति सीधे मिलेगी तो घृणा  
सीधे लगेगी चोट  
सीधे होते हैं वार  
सीधी लकीरों में मत देखो सुंदरता  
क्योंकि सबसे पहले सुंदर तो  
स्त्री को कहा गया  
और वृक्ष के तने से लिपटती तना को  
तिकड़मों अड़चनों, पेचों और बाँक को  
सुविधाप्रद दुविधा से मुक्त कर दिया गया  
सीधे सीधे कुछ को भी सीधा क्यों रहने दें ?  
रीढ़ को सीधा रखना रिवाज से बाहर हुआ !

### दरवाजा बंद

बिल्लियाँ कुत्ते चोर और भिखारी  
और योद्धा भी पहुँचे प्रवेशार्थी होकर  
छोटे-बड़े दरवाजों के पास दी दस्तक  
बंद दरवाजे का इस्तेमाल कारणवश  
अनेक अवसरों पर  
लक्ष्यों से करते हैं लोग  
कम हैं लोग जो मान दें दरवाजे को  
ज्यादातर तो पीटते हैं उसे  
झल्लाकर बंद कर देते हैं जोर से  
हवा की आदत में भी  
है यही सलूक  
मैं दरवाजा खुला रखने के लिये  
टेका लगाता  
कोई उसे रोज हटा देता है  
और मुझे अपना ही मिलता है बंद  
कोई उस बंद से झाँकता है हिचका सा  
खटखटाता नहीं है  
मुझे एक हिचकी दिलाती है होश  
खोलो, अदने कवि, खोलो  
कविता से मिलो अपने ही दरवाजे  
मैं जागकर खुल जाता हूँ  
उसे रास्ता देता हूँ, अवाक्  
उसके पीछे जैसे कोई दरवाजा  
आहिस्ता होता है बंद।

संपर्क : 09425678579

### रचना में मातम

उधर से जिधर से होकर हम आए हैं  
 आया है मातम का एक संदेश  
 रचना में होती है  
 एक मदहोश मौसम की खुमारी  
 जिससे गुजर कर दुनिया जाएगी आगे  
 एक अस्पष्ट मौसम तब तक  
 बिछाता रहेगा जाल  
 जिसमें फंसती रहेंगी पसीने की बूंदें  
 इधर एक और तैयारी चल रही है  
 घड़ियों की रुकी हुई सूइयों के भीतर  
 यह एक स्पष्ट न्योता होता है  
 जिसे सुनकर चिड़ियों के पर उलझने लगते हैं  
 और बदलने लगती है बाज की आँखें  
 हमारे अंदर तेज गुम्फन होती है पैदा  
 तो हम उलट कर सोचने लगते हैं  
 हैरान हो कर इधर-उधर ताकते  
 जिधर नवागन्तुक  
 बैंड बाजों से लैस हो कर आए हैं  
 चमत्कार की एक आदिम प्रतीक्षा पलक झपकाती है  
 मगर बच्चे वहां सदा के लिये  
 अपनी नींद खो चुके हैं  
 बूढ़े-बुढ़िया वहां गुड्डे-गुड्डियों में बदल चुके हैं  
 नटखट अंदाज में मटकते हुए  
 चाभी देने पर गीत गाते...

डॉ. आनन्द बहादुर

अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग

राजीव गाँधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

अम्बिकापुर (छत्तीसगढ़)

### वह डूबा शहर तो पीछे छूट चुका है

वह सब कुछ है रचनाओं में  
 जो तुमने छोड़ा था  
 रेतघड़ी की सरक से छूटा समय  
 और एक नदी का बहाव  
 जो बाढ़ की गति में थी  
 उधर जिधर सब कुछ दिव्य था  
 चाहता था उसको सहेजना  
 वहां जा कर एक नाम पुकारना  
 रचना में था एक अभीता बचपन  
 एक छूटा कौमार्य एक अभोगा बुढ़ापा  
 एक सम्भावनाहीन प्रकाश  
 रचना से बचकर निकल गए थे  
 पत्थर पैर पेड़ और घोड़े  
 वहां एक समुद्र था  
 जिसके तल में एक आधी डूबी मीनार  
 जिसके चारों ओर छोटी छोटी मछलियां  
 मछलियों की देह में समाई हुई ध्वनियां  
 और छोटे छोटे माचिसडिब्बा-मकान  
 जो गवाह हैं  
 कि डूबने से पहले काफी चिल्लाहटें फैली होंगी  
 जो अब मछलियों की शक्ति में तैर रही हैं  
 अब कहीं नहीं था वह डूबा हुआ शहर  
 काफी गहरी खाई थी  
 रचना के भीतर और बाहर प्रकाश के बीच।

## एक स्पष्ट स्थगन में

एक स्पष्ट स्थगन में पहुंचने के बाद  
 काफी आश्वस्त है मन  
 इस स्थगन की उतनी ही जरूरत थी  
 जितनी प्रेम की और अन्न की  
 एक दिन जैसे अखबार नहीं आए  
 और दिन गुजर जाए  
 छोटी मोटी अनेक चीजों के बिना  
 जैसे टीवी पर कोई सीरियल देखते हुए  
 उसकी नायिका से चुपचाप  
 दो मिनट के लिए प्रेम कर लिया जाय  
 इतनी हुशियारी के साथ  
 कि सीरियल के नायक को  
 या उसके पति को आभास तक न हो पाए  
 सीरियल के गंतव्य तक पहुंचने से पहले  
 आप लौट आ सकते हैं  
 अपने वास्तविक प्रेम में  
 तब तक अगर आपका प्रेम  
 ब्रह्माण्ड के बाहर चला गया हो  
 तो एक कप चाय में डुबा सकते हैं अपनी प्रतीक्षा  
 एक ऐसे व्यक्ति से फोन पर कर सकते हैं चुहल  
 जो आपका दोस्त हरगिज नहीं है मगर  
 उसके सामने नहीं होने का लाभ  
 एक स्थगन भर आपके साथ होता है  
 तो आप महसूस करते हैं  
 कि आप किसी से भी दो मिनट भर  
 ऐसे बरत सकते हैं मानो  
 वह आपका जीवन भर का मीत हो  
 यह स्थगन, यह स्थगन मात्र दो मिनट का है  
 मगर यह दो मिनट उस मौत पर भारी है  
 जो प्रेम में हृदय टूटने से उत्पन्न होती है  
 या बेरोजगारी से, या अनिदान बीमारी से  
 शत्रुता, छल, कपट, से घिर जाने के अहसास से  
 काफी कुछ बचा है अभी यहाँ  
 चारों तरफ रेत में मिले स्वर्णकणों सा बिखरा  
 एक स्थगन में अभी है।

## स्थगन में पागल होती नदी

कोई कुछ भी कहे  
 अब तुम नहीं बदल सकते  
 स्वप्न देखने वाली मछली में  
 पहले यह एक जादुई खेल की तरह होता था  
 और इससे उगते थे पेड़  
 और एक नदी जिसमें तैरते थे पत्थर  
 और जब विश्वास था  
 तो क्या कुछ नहीं था सम्भव  
 सफल था तब खोना,  
 पूरी तरह से रेत-रेत होना  
 और नदी से निकलकर बैठ जाना  
 किनारों में उगी घास की नन्ही-नन्ही जड़ों में  
 जड़ें तब प्यार का वास्तविक काम अंजाम देती थीं  
 यह तब की बात है जब नदी  
 स्वप्न में पागल होती थी  
 तो एक नया देवता सिरजने की  
 प्रसव वेदना से व्याप्त होती थी  
 अब तुम नहीं कर सकते  
 होने को बदलने के ये सारे करतब  
 अब किरदार,  
 यहां पर कोई नदी है ही नहीं  
 यह तो एक निचाट खाली सड़क है  
 जिसका कोलतार गर्म होकर पिघल गया है  
 और बह रहा है  
 हवा इसके बदन पर ताप बन कर  
 थरथराती हुई  
 एक पिघले हुए पोलिथिन के थैले की तरह  
 चिपकी हुई है।

संपर्क : 09425582819

## पीली साड़ी पहनकर

सुखाड़ में भी लहलहा रही  
सरसों की फसल  
अपना होना साबित करती,  
इतराती, इशारे करती  
वर्षा के भरोसे  
पिछड़ गये धान के बिरवे  
और अब तो  
पार हो गई आँधी-बारिश भी  
पीले रंग में रंग जायेंगे खेत  
पीली साड़ी पहनकर 'जलखै' ले  
जाएगी लछमी  
खेत अगोरता रामकरन  
दुहरा-तिहरा हो उठेगा  
धनवंती धरती को देखकर  
कई-कई जीवन के कई-कई सपने  
एक साथ उतरेंगे  
किसको देखेगा रामकरन  
अपने बाहर या अपने भीतर  
आगे फैली सरसों सुकमारी का मोहित रूप  
भीतर पीली लहठियोंवाले  
हाथों से पकी रोटी की खुशबू सँभाले  
अन्नपूर्णा सी साक्षात्  
पीली साड़ी में  
लछमी की दिपती आँखें  
लोटे के छलकते पानी सी देह  
एक साथ देखना दोनों को  
आसान नहीं  
रामकरन के लिए।

## डॉ. चेतना वर्मा :

व्याख्याता, इतिहास विभाग  
वीमेंस कॉलेज, जमशेदपुर  
अब तक कविता की तीन पुस्तकें प्रकाशित- 'संप्रस्वर'  
(2009), 'उस दिन का इंतजार' (2007), 'गीली  
मीट्टी में दुख' (2014)

## माँ की उम्मीद

आस-पास की आहट से  
लगता जैसे लौटा है फूलों का मौसम  
पहले लौटा था तब और बात थी  
सपने थे, हरियाली थी, जीवन था  
माँ की आँखों में रचा-बसा उसका सपना  
माथे और पाँव पर लगा काजल का टीका  
छिपा लेती थी उसको सीने में  
बदल गया मौसम बड़ा हुआ जब यह  
और छतनार होकर फैल गये सपनों के पंख  
माँ की आँखों की उम्मीद  
रोम-रोम से अशीषते बीत गये इक्कीस बरस  
पता नहीं लौटेगी कब पहले वाली हवा, पहले की खुशबू  
बिखर गया सबकुछ गुजरात की आँधी में  
फिर भी लौटेगा वह जैसे लौटता है नदी में जल  
जैसे लौटती हैं हरी पत्तियाँ  
पतझड़ के बाद  
माँ की आँखों में रोशनी बनकर  
थोड़ी फुहार पड़ जाने के बाद  
धूप-धूल झड़ जायेंगी  
नमी पहनकर आँखें  
पूरा का पूरा देख सकेंगी वसंत फूलों से भरा।

## माँ के मनोरथ

पहली बार आया था  
गाँव से राजधानी  
कहाँ भूल पाया स्वाद बथुआ के साग का  
रोटी के साथ प्याज और हरा मिरचा  
'वह' भूल भी जाती तो नमक रख जाती बहन  
घर लौटने के सपने में भींगती हैं आँखें  
आँखों में आते हैं  
बच्चों के लिये बताशे और लालछड़ी  
घरवाली के लिये बेलपत्र छाप सिन्दूर  
कहाँ भूल पाये बूँदाबाँदी में  
सावन की अलसाई दोपहर,  
जेठ की उमस में  
पीपल के पेड़ के नीचे  
अंगोछा सिर के नीचे रखकर लेट जाना  
यहाँ कहाँ होता यह सब  
कान पर बीड़ी पहले नहीं रख लो  
तो वह भी छूट जाती है बासा पर  
जरा भी देर हुई तो  
ठीकेदार दूसरे को काम पर ले लेता  
इसलिये दौड़ रहा है वह  
छूट नहीं जाए दिहाड़ी  
नहीं तो कैसे बचेंगे  
आज के पगार से चालीस रुपये  
माँ ने कहा था इस बार  
'लबान' में जमाएगी पाँच किलो दूध का दही  
माँ के मनोरथ का क्या कहना  
यहाँ से ले जाना है बासमती चूड़ा  
नहीं मिलता वहाँ  
बकौर हाट में  
बहन से नहीं पूछा  
डरता था मांग देगी वह  
जीन्स और टॉप  
वो पहनकर आती है न  
कामेसर बाबू की भतीजी  
स्कूल में।

## चुटकी भर हँसी

आज की दुनिया में  
अलग से अर्थ ही क्या है  
उदास होने का  
अंदर ही तो आते हैं जमा होते हैं  
बाहर के ताप, झंझावात और सारे  
अंधड़-तूफान  
कटते जंगल, घटते नदियों के जल,  
गायब होते पशु-पक्षी, पिघलती बर्फों,  
कम होती जा रही संवेदनायें,  
बढ़ती हुई दुनियादारी,  
वस्तु में बदलती जा रही ममता, प्यार और पुलक  
उदास ही तो करते हैं सब  
खुश इससे ही हो जाते हैं कि  
बाहर जाकर लौट आते हैं घर, लौट आते हैं प्यार  
बनिया चीनी नहीं है की तख्ती नहीं लगाता,  
बस्ती में नहीं पड़ती पुलिस की गश्त  
उदासी में भी ढूँढ़ते हैं  
बच्चों के नाम हँसी  
माँओं की निश्चित नौद  
बाजार में यदि सब कुछ बिकाऊ है  
तो क्यों नहीं बिकती  
चुटकी भर हँसी जो भीतर तक  
मीठा-मीठा कर दे  
मुट्ठी भर की नौद  
जो उदासी की हर परत  
हटा देती है।

## संपर्क :

36, ऑफिसर्स फ्लैट्स, जुबली रोड, नार्दर्न टाउन  
जमशेदपुर (झारखंड), पिन- 831001  
मो. 08292675554



जीवन सिंह

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविता,  
कहानी एवं आलेख प्रकाशित, संप्रति अध्यापन

कविता लिखता चलता जोहता हूँ बाह

मैं कविता लिखता हूँ  
कभी शीत के दिनों में  
धान के खेतों में  
घास भरी पतली, पाँक-पानी से  
गीली मेंडु पर  
चलते-चलते।

कविता जीवन है  
जीने का जरिया है  
बेबस-लाचार मन में  
सुलगता सा अंगार है  
सदियों से पीड़ित इंसानियत के  
बीच की झंकार है

कविता आदमियत की भाषा है  
अमीरी और गरीबी के बीच  
खाई पाटने का औजार है  
तुम्हें यकीन न हो तो  
पूछ लो उस आवाज से  
जो अन्तस का पैरोकार है  
कविता नदी के इस किनारे पर  
फसल उगाती है तो

उस किनारे पर कारखानों में ढोती है माल  
उसका घर ढहते बहते  
मुहाने के उस बिन्दु पर मिलता है  
जहाँ अर्थहीन जीवन, अपनी पूर्णता  
में दीप्त हो उठता है।

कविता सृष्टि की आत्मा है  
सरस्वती की कोख से जन्मी  
सभ्यता की परिभाषा है।  
यह धरती और आसमान में  
टूटते-बिखरते पिण्डों के लिए  
फिर से बनने की आशा है।  
कविता इस बेशर्म सभ्यता को  
चुनौती देने की ललकार है  
मानव-अन्तस में छुपा हुआ  
ज्वालामुखी का उद्गार है

कविता दुर्निवार,  
सपनों को साकार करने के लिए  
झेलती रहती है अनंत पीड़ा।  
प्रतीक्षा में सुख आँखों को बिछाये  
जोहती है राह।

संपर्क :

09433352976

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

शोध-छात्र

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

## ओ गंगा

ओ गंगा !  
तुझसे ही फलता-फूलता है  
आकाश  
तुझसे ही हरी-भरी होती है  
धरती  
तेरी ही काया के आकर्षण पर  
खींचे चले आते हैं  
सियासी दीवारों से अंजान  
क्षितिज के हर कोर से  
असंख्य चिड़ई-चुगुन  
जो लौटते समय  
अपने साथ ले जाते हैं  
स्नेह के नये-नये पंख  
तेरी ही काया में  
जन्म लेती हैं  
असंख्य मछलियाँ  
उछलती-कूदती  
पानी के साथ प्रेम करती  
वियोग में तड़पती-मरती  
और सचमुच में  
रंग फीका करती  
पानी के चेहरे का  
तेरी ही काया में  
कुछ बादशाही किस्म के जीव  
बनाते हैं साम्राज्य  
और कुछ अनुचर की भाँति खप जाती हैं  
कई प्रजातियाँ  
तेरी ही काया में  
बसती है एक पृथ्वी

जहाँ दबी पड़ी है  
सबसे ज्यादा आग  
तेरा शीतल शरीर  
रेडियोधर्मी युग में भी  
बढ़ा देता है हतभागी मनुष्य की उम्र  
तेरी बाँहों के स्पर्श मात्र को  
श्रद्धा आती है दौड़ी-दौड़ी  
और मनु जल ग्रहण कर  
बसा लेता है एक नई सभ्यता  
किसी प्रलय के बाद  
वैसे तो इक्कीसवीं सदी में  
और पसरा है इड़ा का राज  
पर तुम्हारा श्रावणी रूप  
बार-बार बाँध देता है  
उसकी सीमा  
इधर कुछ सालों से  
तुम कम बोलती हो  
और चलती हो बेहद आहिस्ता-आहिस्ता  
नृत्य तो बिल्कुल ही नहीं करती  
आश्चर्य है  
इस उत्तर आधुनिक दौर में  
तुम्हारे बेटे  
तुम्हारे साथ  
अंधकार युग की तरह पेश आते हैं  
और तुम लाज के मारे  
चीखती-चिल्लाती नहीं  
गोया आततायी बेटों से ही  
प्यार हो गया तुम्हें !

## इस पृथ्वी पर जीने के लिए

इस पृथ्वी पर जीने के लिए  
रोटी से पहले  
जरूरी है थोड़ी-सी हवा  
जिसके ठहराव भर से  
चटक जाता है  
नाजुक दिल  
और बिना किसी फाँक के  
ठहर जाती है  
जिंदगी...  
इस पृथ्वी पर जीने के लिए  
तन ढँकने से  
ज्यादा-जरूरी हो जाता है  
थोड़ा- सा पानी  
जिसके सूखने से  
नदियाँ ही नहीं  
अँतड़िया भी सूख जाती हैं  
और रेत की तरह  
रेत होकर  
ढह जाता है  
मिट्टी का महल  
वैसे तो रंगहीन पानी के साथ ही  
उड़ जाता है  
जीवन का हर रंग  
फिर भी, पीला पड़ जाता है  
शरीर...  
इस पृथ्वी पर जीने के लिए  
आसमान के साथ  
किसी छत के बगैर भी  
ता उम्र गुजार देते हैं कुछ लोग  
इन्हें पता है  
कंक्रीटीय गर्मी से  
ज्यादा लाजिमी है  
थोड़ी सी आग  
जिसके बुझने भर से

आँखों की रोशनी ही नहीं  
जबान की ताकत भी  
गुम हो जाती है  
फिजाओं में  
ठंडा पड़ जाता है  
अच्छा-खासा  
आदमी...  
इस पृथ्वी पर जीने के लिए  
चार-अक्षर सीखने से पूर्व ही  
ढाई आखर का प्रेम  
समझना आवश्यक हो जाता है  
पोथियों से दुनिया नहीं चलती  
पोथियों से दुनिया बदलती भी नहीं  
क्योंकि, पोथियों के पूर्व भी  
चलती और बदलती रही है  
दुनिया...  
पेड़ की भाषा  
पंछियों की जबान  
इनके साथ-रहकर ही  
सीखी और समझी जा सकती है  
साथ रहकर ही  
प्रेम पनपता है  
दुआएँ बरसती हैं  
आयु बढ़ती है  
उन सबकी  
और अपनी भी  
प्रेम के बगैर  
कौन जीता है यहाँ  
पेड़, पंछी, हम  
शायद कोई भी नहीं...  
यह बिल्कुल सत्य है,  
इस पृथ्वी पर जीने के लिए  
हवा, पानी, आग  
और, थोड़ा प्रेम होना चाहिए।

संपर्क : 09455107472

## अपनों की भूल भूलैया

विश्वासी एक्का

बरसता रहा पानी  
रात भर  
खेत लबालब, गलियाँ गीली  
मेढ़क की टर्-टर्।  
दुखना सपने देखता रहा  
भोर तक  
बेटी पढ़ने जायेगी शहर  
साहब बनेगी  
नाम रोशन करेगी  
घर और गाँव का।  
सुबह, नाँगर बैला ले  
खेत जोतने चला है दुखना।  
बैलों के संग गोल-गोल घूमना  
जैसे सपनों की भूल-भुलैया।  
हरी-छरहरी धान की बालियाँ  
सुग्गा चक्कर काटता खेतों में  
उसे भी प्रतीक्षा है, धान के पकने का।  
धुकधुकाती है छाती  
रूठ न जाय बरखा रानी।  
मनौती करता ग्राम देवता की।  
बुरे सपने का सच होना  
और भी बुरा होता है  
लग जाती है धान में बाँकी  
सूख जाती है  
दुधयायी बालियाँ  
मेढ़क तलाशता है पानी  
छुप जाता है, चट्टान के नीचे  
या  
गहरे तालाब में।  
झरते रहते सपने दुखना के  
रात भर  
ओस से भीगे।  
टपक रहे हैं, महुआ के  
रस भरे फूल  
सूखे खेत में  
टप-टप।

## कुछ कहना है तुमसे

पहचान लेने दो उन्हें  
अपने गुनहगारों को  
बरगलाओं मत उन्हें  
जहर बुझे मीठी बातों से।  
बेड़ियाँ मत डालो उनके पैरों में  
हाथों को मुक्त कर दो हथकड़ियों से।  
खा लेने दो पेट भर खाना  
पी लेने दो लोटा भर पानी।  
निहार लेने दो, खेतों खलिहानों को  
हाँकने दो पछाँही बैलों को।  
रख लेने दो, कंधों पर हल-बक्खर  
काट लेने दो हँसुए से, पकी फसल।  
मनाने दो छेरता और फागुन  
गा लेने दो बिरहा, ददरिया।  
सुन लो तो उनके सवाल  
क्या हुआ जो  
नहीं है जवाब तुम्हारे पास।  
नहीं  
तुम्हारे मुख से निकला ये शब्द  
क्या सचमुच तृप्त करता है तुम्हें ?

संपर्क:

अम्बिकापुर, सरगुजा

छत्तीसगढ़

मो. 09479140156

अनिल कुमार गुप्ता  
छात्र, स्नातकोत्तर,  
द्वितीय वर्ष, हिंदी विभाग  
उत्तर बंग विश्वविद्यालय

### पहचान

रोटी के टुकड़ों पर  
टूटते-गिरते  
पसीने की धार,  
इतना कि -  
गालों की चमड़ी  
पेट की अँतड़ी  
कुत्तों की जुबान  
बैचेन-व्यग्र करती हुई  
बेबस-लाचार व्यक्ति  
डण्डे के सहारे  
या कि हड्डी  
जिस पर टिकी है  
दो दृष्टि-कान  
एक नाक-मुख  
एवं लाचार वायु का  
आना-जाना  
पलकें आँखें- दृष्टि  
यह जगत

पर रंगीन है परत  
असलियत की पहचान  
आदमी की जुबान  
सूखें होंठ- आँखें नम  
स्त्रावित कान  
खुली दृष्टि  
ब्लैक एण्ड व्हाइट  
क्या यही है-  
आदमियत की पहचान ?  
आदमियत की जुबान  
ललचाई हुई लार  
रोटी पर  
क्या टुकड़ों पर  
भी नहीं टपकती ?  
मरती है आत्मा  
जाती उसकी जान  
क्या यही है  
आदमियत की पहचान ?

संपर्क  
मो. 08101616539

## रचना और आलोचना के प्रश्न जीवन के प्रश्न होंगे कि नहीं!

मार्तण्ड

आज आलोचना की जो समाजशास्त्रीय पद्धति है उसने विषयों का टोटा खत्म कर दिया है और इस तरह के शीर्षक की आवाजाही बेरोकटोक चलती रहती है। जैसे, बहुत सारे शोधार्थी इस तरह के शोध विषय चुन लेते हैं; कोई रचना ले ली और उसमें आज का समय या रचना का समय जोड़ दिया और पूरा एक शोध प्रबंध तैयार हो गया। इसके चलते, इस तरह के विषयों की पुनरावृत्ति बढ़ी है जिससे विषय की गंभीरता एक यांत्रिक पुनरुत्पादन में नष्ट हो जाती है और कई बार हम चीजों को ठीक समाजशास्त्रीय व्याख्या तक सीमित कर लेते हैं। मानो किसी समय का जो अर्थशास्त्र है उसके बारे में जानना जरूरी है कि नेहरू युग के उत्तर समय में कौन सी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिसके कारण अमरकांत-लिखित 'हत्यारे' कहानी की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

हर सचेतन मनुष्य अपने समय की जटिलता को समझना चाहता है और मनुष्य की वर्तमान की वर्तमानता (प्रजेन्स ऑफ प्रजेन्ट) क्या है? इस प्रश्न को लेकर वह समय के संकट से जूझता रहता है। कोई कहानी या कविता या कोई अन्य कलारूप अपने भीतर के अदम्य आकर्षण से उसे अपनी ओर खींचते हैं फलस्वरूप महान रचनाएँ जन्म लेती हैं। ऐसे में सवाल है कि 'हत्यारे' कहानी का हम कथाआलोचकों-कथाकारों के लिए क्या महत्व है? या हम सरीखों के लिए 'हत्यारे' की उपयोगिता क्या है? यहाँ उपयोगिता किसी उपयोगवाद के अर्थ में नहीं है बल्कि मार्क्स जिसे उपयोग मूल्य कहते हैं उसके अर्थ में है। दरअसल यह कहानी कला और कथाआलोचना दोनों के लिए गंभीर सवाल है। समकालीनता और आज के समय के बारे में हमारे समय के महत्वपूर्ण आलोचक रविभूषण के विचार हैं कि 1944 से हमें अपना समय मानना चाहिए। उस साल एक किताब आयी थी 'रोड टू सर्फडम' वहाँ से एक नये ऐतिहासिक युग 'बाजारवाद की केन्द्रीयता' की शुरुआत होती है और उसको एक विभाजक रेखा माननी चाहिए। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि यह काल निर्धारण की हेगेलियन पद्धति है जहाँ विचार की प्रमुखता से इतिहास का मूल्यांकन किया जा सकता है। अब 1944 में किताब आयी और वहाँ से नए समय की शुरुआत हो तब तो उदारतावाद की शुरुआत लास्की आदि से ही हो जाएगी। अगर इतिहास विचारों की क्रमबद्धता गत्यात्मकता और द्वन्द्वात्मकता में निहित है तो यह हेगेलियन पद्धति है। 44 में 'शेखर एक जीवनी' का दूसरा खण्ड आता है। प्रयोगवाद, 'तारसप्तक' ऐसी बहुत सी चर्चाएँ शुरू होती हैं। उनमें से किसको अपने समय का आधार बनाया जाए यह एक प्रश्न है। दूसरा प्रश्न क्या अर्थशास्त्र के अनुशासन से चलकर साहित्य के लिए काल निर्धारण संभव है। अगर अर्थशास्त्र से इतिहास में परिवर्तन के चरणों को समझना है तो प्रभात पटनायक इसके लिए ज्यादा मुफीद होंगे। साहित्य के आलोचक के लिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण क्यों है और फिर इतिहास निर्माण की जो वास्तविक शक्तियाँ हैं, जिनके प्रति हम अपनी प्रतिबद्धता भी व्यक्त करते हैं, वे इतिहास के निर्धारक बिंदु होंगे या कोई शिकागो स्कूल निर्धारक बिंदु होगा। तात्पर्य यह है कि जैसे हमारा नया समय हमारी परिस्थितियों के अनुरूप भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन का भी एक नया समय था और वह नक्सलबाड़ी के आंदोलन से शुरू होता है तो इसे कोई भी कह सकता है कि यह हमारा अपना समय



है। दृष्टि भेद का अंतर है। बहरहाल, सवाल है- आज का समय से मतलब क्या है? क्या आज की कहानी और कथा आलोचना का समय आज का समय है। और यदि यह सवाल है तो सवाल फिर रचना-प्रक्रिया का होगा अर्थात् प्रश्न आज के कलाकार की रचना-प्रक्रिया का है। यहाँ रचना-प्रक्रिया से तात्पर्य आज की कहानी की रचना-प्रक्रिया से है। सीधे शब्दों में कहें तो 'हत्यारे' की रचना-प्रक्रिया हम सरीखों के लिए क्यों महत्वपूर्ण है। कहानीकार के तरफ से भी, पाठक की तरफ से भी और (ध्यातव्य है कि) आलोचक भी सबसे पहले एक पाठक ही होता है। इस रचना-प्रक्रिया को प्रारंभिक रूप से आलोचक पाठक की ही हैसियत से समझेगा। कथाकार की तरफ से यह प्रक्रिया थोड़ी भिन्न होगी। इस भिन्नता की प्राथमिक पहचान कथाकार को होगी। लेकिन शीघ्र ही आलोचक पाठक की हैसियत से तटस्थ होगा और कथाकार लेखक की हैसियत से। यह तटस्थता कथाकार और आलोचक दोनों को कहानी के एक वस्तुनिष्ठ आकलन और मूल्यांकन की ओर प्रेरित करेगा। आकलन और मूल्यांकन के इसी क्रम में 'हत्यारे' कहानी और आज के समय के जटिल अंतःसंबंधों की पहचान हम लोग शायद कर पाएँ। बहरहाल, कहानी पाठ की जो सबसे आम पद्धति है- वह समाजशास्त्रीय पद्धति है। जिसमें आप रचना से समाज, समाज से रचना में बराबर आवाजाही करते हैं और यह अच्छी बात भी है। कहानी के 'आडियन्स' की भिन्नता से इस तरह की समझ को विकसित करने का और इस समझ के चलते 'आडियन्स' को, पाठक को विकसित करने की प्रक्रिया चलनी चाहिए। जैसे, सन् 62 में अमरकांत की कहानी 'हत्यारे' आती है। यह नेहरू युग के अवसान और उसके मोह भंग का संधिकाल है और नई कहानी और अकहानी के संधिकाल की भी कहानी है। अतः इस लिहाज से यह कहानी अमरकांत की कहानी यात्रा में एक ब्रेक की तरह है। दो नायक हैं या खलनायक हैं। खलनायकत्व नायकत्व प्राप्त कर रहा है। दोनों नायकों को यदि गौर से देखें तो एक गोरा है, ऊंचा है। दूसरा सांवला है, ठिगना है। दोनों एक ही तरह की वेशभूषा में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के आस-पास किसी बाजार में टहल रहे होते हैं और उनकी बातचीत जब शुरू होती है तो ठेठ लहजे में, हलो, सन!... इतना लेट क्यों,

बेते?' इस तरह की एक बातचीत शुरू होती है। हमारे विमर्शों का जो दबाव है उसकी तरफ से अगर हम इस कहानी में एक संभावना की बात करें तो जो सांवला है वह भिन्न वर्ग का है, कहानी की संभावना है क्योंकि कहानी में कहीं-कहीं स्टेटमेंट (बयान) भी ऐसे आते हैं कि 'तुमको सेक्रेटेरियट का भंगी बनाऊंगा!' गोरा गुरु है। सांवला चेला है। गुरु उसको शिक्षित करता है। ठीक उसी प्रक्रिया में जैसे घीसू माधव को शिक्षित करता है। 'हत्यारे' कहानी में जब गिलास में दोनों शराब बांटते हैं तो सांवला चुपके से अपनी शराब गोरे के गिलास में डाल देता है। (इस पर गोरा कहता है) 'लेकिन जब तुम इतनी पी नहीं सकते तो अवसर आने पर घूस कैसे लगे, जालसाजी कैसे करोगे, झूठ कैसे बोलोगे? फिर देश की सेवा क्या करोगे, खाक!' सांवला अभी सीख रहा है। औरत के पास जाना अभी तक सीखा नहीं है और फिर गोरा कहता है, 'आज तो कुछ रचनात्मक कार्य होना चाहिए!' तो रचनात्मक लीडरशिप क्या है? रिकशा मजदूरों की बस्ती की तरफ चलता है। बस्ती के शुरू में ही पान की छोटी दुकान है। जिस पर पान-सिगरेट तो मिलती ही है रोजमर्रा की और सारी चीजें भी मिलती हैं और वे मजदूरों के बस्ती के पहले ही एक झोपड़ी में घुस जाते हैं। एक महिला चूल्हे पर खाना बना रही होती है। उसे देखते ही गोरा मुस्कुरा कर बोला, 'ये विश्वलोपर संघ के अध्यक्ष हैं। इनको हर तरह से तुम्हें खुश करना है।' दोनों औरत के साथ सम्बन्ध बनाते हैं। पैसा नहीं देते हैं और जब औरत कहती है, 'लाइए मैं (पैसे का खुदरा करवाकर) ले आती हूँ।' तो गोरा बोलता है, 'तुम तो पूँजीपति हो! तुमको किस बात की कमी है।...अरे, तुम देश की महान कार्यकर्त्री हो, तुम कहाँ कष्ट करोगी?' और आगे बढ़ता है कहता है, 'साले जूते निकालकर हाथ में ले लो! सांवला बोला, 'क्यों?' ... (गोरा कहता है) 'भाग साले! आर्थिक और सामाजिक क्रांति करने का समय आ गया है।' दोनों भागना शुरू करते हैं। औरत बाहर निकलकर कहती है- 'अरे, लूट लिया हरामी के बच्चों ने!' मजदूरों की बस्ती से कुछ लोग उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं। दोनों अरबी घोड़े की तरह सरपट भागे जा रहे हैं। कभी बाएँ घूम जाते हैं। कभी दाएँ घूम जाते हैं। इतने में मजदूरों का एक लड़का फुर्ती से सांवले की तरफ

तीर की तरह बढ़ता चला जाता है और लगता है उसको पकड़ ही लेगा। ऐसे में गुरु गोरा रुक जाता है। जब से चाकू निकालकर खोल लेता है और पीछा करते हुए आ रहे मजदूर के पेट में घोंप देता है और फिर भाग जाता है। कोलतारी सड़क पर आगे की स्ट्रीट लाइट में दोनों के सुंदर और पुष्ट शरीर पर पसीने की बूंदें छरछरा रही हैं; यह युद्ध का सिम्बल है 'सिम्बलाइजेशन ऑफ पावर' है और वे न जाने कहाँ अंधेरे में गुम हो जाते हैं, यह पूरी कहानी है। द्रष्टव्य है कि जो नेहरूवियन आदर्शवाद है उसकी खोल के भीतर से जो फासिज्म पैदा हो रहा है यूथ के बीच में, वह उसी आदर्श के भाषा में ही पैदा हो रहा है। फासिज्म के साथ दिक्कत यही है उसको आना तो हमारी भाषा में ही पड़ेगा। सामाजिक, आर्थिक क्रांति की भाषा में, लेकिन वो रूपवाद है। उसका यथार्थ फासिज्म है। आदर्श के उस रूपवाद का यथार्थ फासीवाद है। और इसी फासीवादी टेन्डेन्सी की कहानी 'हत्यारे' है। और यह फासीवादी टेन्डेन्सी यूथ में व्याप्त हो रही है, जबकि हमारा देश सबसे नौजवान है, आज के राजनैतिक परिदृश्य में एक युवा देश के भीतर के युवा वर्ग में तरह-तरह के विभाजन हैं। इसको अगर ध्यान में न रखा जाएगा तो दिक्कत की बात होगी और अमरकांत की खासियत यही है। उनकी चिंता हमेशा ही परिवर्तनकारी शक्तियों के पहचान में आने वाले संकट को कहानी में रखने की है। बहरहाल, चूंकि मजदूरों की बस्ती में जा करके वह हत्या करता है। इसलिए वहां जाकर कहानी एलीगरी में बदलती है और यह मूल्य-निर्णय शामिल होता है कि फासीवादी चरित्र हमेशा ही वर्किंग क्लास (मजदूर वर्ग) के विरोध में होगा। बहरहाल, ये तो कहानी का एक सिंपल पाठ है। लेकिन क्या इसीलिए 'हत्यारे' कहानी हमारे लिए महत्वपूर्ण है। फासीवाद के इस नए दौर के चरित्र के बारे में, उपभोक्ता समाज के बनने की प्रक्रिया के बारे में, बहुत सारी बातें इस कहानी को पढ़े बिना भी समझ में आ सकती हैं। क्या जरूरत थी कि इसको पढ़ा जाए! एक सचेत बुद्धिजीवी, एक एक्टीविस्ट जो सचमुच में परिवर्तनकारी है। और यथार्थ में परिवर्तन की ग्रोथ रचना चाहता है। उनके लिए केवल यह सामान्य कहानी का पाठ होगा तो यह महत्वपूर्ण नहीं होगा।

इस संदर्भ में हिंदी के भिन्न आलोचकों के मंतव्यों

को उद्धृत किया जा सकता है जिन्होंने 'हत्यारे' कहानी के बारे में लिखा है या अमरकांत के बारे में लिखा है। विश्वनाथ त्रिपाठी समाजशास्त्रीय, राजनीति के अपराधीकरण से लेकर अपराध के राजनीतीकरण और स्टूडेंट पॉलिटिक्स की वह पूरी प्रक्रिया जो जेपी मूवमेंट के भीतर से निकली है उसके 'रिप्रजेन्टेशन' के बतौर 'हत्यारे' कहानी की अच्छी व्याख्या करते हैं। लेकिन वह एक सवाल उठाते हैं कि अमरकांत के पात्र कहीं भी संघर्ष क्यों नहीं करते हैं? अगर समाज में संघर्ष है तो अमरकांत के पात्र संघर्ष करते हुए क्यों नहीं दिखते। अजीब बात यह है कि ठीक यही आलोचना राजेन्द्र यादव भी अमरकांत के बारे में करते हैं कि अमरकांत की कहानी का कोई भी पात्र संघर्ष नहीं करता है। वहां अस्तित्व की समस्या महत्वपूर्ण है, आस्था का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है 'लेखकीय आस्था एक ओढ़ी हुई चीज है, मनुष्य के अस्तित्व की लड़ाई ज्यादा महत्वपूर्ण है और इसलिए अमरकांत अस्तित्ववादी कथाकार हैं। अब विश्वनाथ त्रिपाठी तो यह नहीं कहेंगे कि वे अस्तित्ववादी कथाकार हैं लेकिन हाँ, यह कहेंगे कि संघर्ष करता हुआ पात्र नहीं दिखता है। संघर्ष करते हुए पात्रों को दिखाना चाहिए। समाजवादी यथार्थवादी की जो अपेक्षा है वह अमरकांत के ऊपर विश्वनाथ त्रिपाठी की तरफ से (लागू की जाती है) और राजेन्द्र यादव 'हत्यारे' को अस्तित्ववाद की कहानी मान लेते हैं। 'हत्यारे' नाम से सार्त्र की भी एक कहानी है जिसके अस्तित्ववाद से अमरकांत के अस्तित्ववाद में क्या अंतर है, और वह अंतर अपने अंतिम रूप में कहाँ तक पहुँचता है, इसको मैं बताना चाहूँगा। सार्त्र लिखित 'हत्यारे' कहानी की पृष्ठभूमि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का समय है। ब्रिटेन के एक कोर्ट में एक ऐसे केस की सुनवाई होनी है, जिसका जीतना तय है और वह बात यह है कि एक टी.बी. का डॉक्टर है। एक दिन उसके पास बहुत अमीर आदमी आता है। लेकिन वह टी.बी. से बुरी तरह ग्रस्त है। बहुत बूढ़ा हो गया है। चल-फिर नहीं पा रहा है। दोनों फेफड़े उसके खराब हो चुके हैं और वह डॉक्टर के पास बैठता है। डॉक्टर कहता है अब कोई उपाय नहीं है। तो मरीज बहुत विनती करता है। डॉक्टर कहता है, लगता है बड़े पैसे वाले हो। मरीज स्वीकार करता है तो डॉक्टर उसे सलाह देता है कि तुम आज से

कुछ खाओ-पीओ मत और अब सिर्फ पानी का सेवन करो और दूर कहीं चले जाओ। छः महीने गुजर जाते हैं। एक दिन अचानक वह आदमी हट्टा-कट्टा, सूटेड-बूटेड डॉक्टर के क्लीनिक में प्रवेश करता है। डॉक्टर पहचान नहीं पाता है। तब मरीज पूरी बात डॉक्टर को फिर से बताता है और डॉक्टर को बहुत सारा पैसे देने की बात कहता है। डॉक्टर चिंतित हो जाता है। वह मेज की दराज से रिवाल्वर निकाल अमीर आदमी को गोली मार देता है और उसका फेफड़ा निकालकर टेबल पर रख कर निरीक्षण करने लगता है और कहता है कि इससे मनुष्य का विज्ञान पर से विश्वास ही उठ जाएगा। इसलिए मनुष्य समाज के कल्याण में उसकी हत्या कर देनी पड़ी और यह केस कोर्ट में गया है और लोग मान रहे हैं कि डॉक्टर जीत जाएगा। यह अस्तित्ववाद की कहानी है। अस्तित्व की समस्या का जो दर्शन फैलाया गया, इतिहास मुक्त व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न, वह सार्त्र की कहानी में है। अमरकांत की कहानी में वह नहीं है। यहां अमरकांत की कहानी के संदर्भ में संक्षिप्तः सुरेंद्र चौधरी और नामवर सिंह के पाठों के अंतर के विषय में कहा जा सकता है। सुरेंद्र चौधरी ने कहा कि हत्यारे कहानी में हत्या नहीं हुई होती तो यह बहुत महत्वपूर्ण कहानी होती। क्यों? क्योंकि हत्या वहां अतिनाटकीयता का प्रयोग मात्र है, जिससे कहानी में एक मादक भंगिमा तो पैदा हुई है, लेकिन वह कुछ कहानी में नया नहीं जोड़ती है और यह अच्छा हुआ कि अमरकांत ने आगे ऐसा प्रयोग नहीं किया। उन्होंने कहा जो परिवर्तनकारी प्रक्रिया है उसमें जो प्रच्छन्न खतरे छुपे हुए हैं वह अमरकांत की कहानी में ज्यादा बेहतर आता अगर वह हत्या नहीं हुई होती। यानि एक नपुंसक, बड़बोली, ऐय्याश युवा पीढ़ी का ज्यादा सही चित्रण हुआ होता अगर ये हत्या नहीं हुई होती। नामवर सिंह ने कहा अगर इस कहानी में हत्या नहीं हुई होती तो यह कहानी इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती। उन्होंने कहा कि कहानी में हत्यारे के द्वारा की गई हत्या कहानीकार का या रचना मूल्य निर्णय है। एक वैल्यू जजमेंट है। अगर रचना की प्रक्रिया में यह वैल्यूजजमेंट (मूल्य-निर्णय) नहीं है तो रचना जो फासिस्ट टेन्डेन्सी दिखाना चाह रही है, जो प्रवृत्ति पैदा हो रही है उसे दिखाया नहीं जा सकता। युवाओं के आदर्श का अतीत में स्वतंत्रता आंदोलन का एक पूरा दौर

है, वह आदर्श दूसरे थे। यह आदर्श दूसरे हैं। इन आदर्शों के रेहटारिक में जो कंटेंट है उसके प्रति मूल्य-निर्णय कीजिएगा कि नहीं यह एक रचना-प्रक्रिया का सवाल है। सुरेंद्र चौधरी के लिए कहानी में हत्या कहानी को अतिनाटकीय बना देती है, दूसरी ओर नामवर सिंह के लिए महत्वपूर्ण। दो मार्क्सवादी आलोचकों की दृष्टि में यह भेद क्यों है? क्या यह यथार्थवाद की दो भिन्न दृष्टियाँ हैं? क्या यथार्थवाद बीसवीं सदी के साथ गुजरी हुई बात हो गई है! इसका हम जैसों के लिए कोई महत्व है! परंतु हमारे समय के प्रमुख चिंतक फ्रेडरिक जेम्सन के लिए यह बीती बात नहीं है। इसी साल उनकी एक पूरी किताब यथार्थवाद के साथ प्रयोग के लिए आमंत्रित करती है और खुद यथार्थवाद के भीतर विकसित होती आयी विरोधी प्रविधियों के द्वन्द्वात्मक चिंतन को विकसित करने का प्रयास करती है। अंग्रेजी के रचनाकार जेम्सन ने बीसवीं सदी के इतिहास की आंतरिकता को कैसे लिखा जाए, इस पर लिखा है- “मेरा प्रयोग यथार्थवाद तक द्वन्द्वात्मक तरीके से पहुँचने का है। यह प्रयोग यथार्थवाद के इस या उस विरोधाभासी युगों के अध्ययन तक ही अपने को सीमित नहीं करता है, वरन् यथार्थवाद को एक ऐतिहासिक और विकासमान प्रक्रिया के रूप में देखने का हिमायती है। इस प्रक्रिया में यथार्थवाद के नकारात्मक और सकारात्मक पक्ष साथ-साथ अंतर्गुम्फित रहते आये हैं। अपने उदय और विकास की इस प्रक्रिया में ही वह अपना क्षय और अपनी मृत्यु भी रचता चलता है। ज्यों-ज्यों वह मजबूत होता है त्यों-त्यों वह कमजोर होता चलता है। विजेता पराजित हो जाता है। इसकी जीत में ही इसकी हार शामिल है। जीवन-चक्र के अर्थ में ही नहीं, उद्विकास के अर्थ में ही नहीं, किसी एन्ट्रापी के अर्थ में नहीं न ही किसी ऐतिहासिक उत्थान पतन की दास्तान के अर्थ में, बल्कि एक विरोधाभास की तरह अंतर्विरोध के अर्थ में इसे सोचने का प्रयोग एक द्वन्द्वात्मक प्रयोग।”

इस विचारोत्तेजक प्रयोग में हम सब यदि शामिल हों तो हमारी कहानी आलोचना के लिए और शायद उनके लिए भी अच्छा होगा जो आज यथार्थवाद के पीछे डण्डा लिए दौड़ रहे हैं। ‘हत्यारे’ कहानी में जो मूल्य-निर्णय है वह हत्या की घटना नहीं है। जरूरी नहीं कि हर कहानी में यह मूल्य-निर्णय आये ही। लेखकीय मूल्य-निर्णय कोई

अनिवार्यता नहीं है। परंतु अपराध की इस मनोवृत्ति के बारे में, इस फासीवादी प्रवृत्ति के बारे में अगर कहानी के भीतर उसके मजदूर वर्ग का विरोधी होने का निर्णय नहीं होता तो यह कहानी इतनी मूल्यवान नहीं होती। वह पेटी बुर्जुआ की जो एक खास प्रवृत्ति है— नपुंसक, बड़बोली, ऐय्याश युवा पीढ़ी का चरित्र-चित्रण मात्र बन कर रह जाती। ऐसे चरित्रों के भावी विकास का, गहरे खलनायकत्व का उद्घाटन वहां नहीं हो पाता। यह पीढ़ा भरी प्रतीक्षा के प्रतिक्रियावादी रूपांतरण की कहानी है। विद्रूप विडंबनाओं के नायक घीसू और माधव लुम्पेन सर्वहारा हैं और 'हत्यारे' कहानी के नायक या खलनायक लुम्पेन पेटी बुर्जुआ हैं। कहानी के भीतर का यह मूल्य-निर्णय दरअसल रचना-प्रक्रिया का एक अहम् हिस्सा है। हमारे आज के कथालोचक यह दावा कर रहे हैं कि जन-जीवन में जब कोई यूननिंगफाइंग फैक्टर नहीं है तो कहानी के भीतर वह कहां से होगा। किसी यूननिंगफाइंग फैक्टर के बिना कहानी की रचना-प्रक्रिया का कोई मूल्य-निर्णय तो आ ही नहीं सकता। फिर क्या किया जाए! यूननिंगफाइंग फैक्टर का मतलब है— विश्वदृष्टि या जीवन दृष्टि। लेकिन यथार्थ के असंम्बद्ध होने की चर्चा पहली बार तो नहीं हो रही है और हम अपने अनुभव से जानते हैं कि समाज के संक्रमण काल में हमेशा ही ऐसी बातें होती रही हैं। ऐसी बातों में हमारे समय के एक प्रमुख चरित्र की ईमानदार स्वीकारोक्ति भी होती है। याद करें आधुनिकतावाद की धारा के एक आदि नायक टी.एस. इलियट 'एसोसिएशन ऑफ सेंसिबिलिटी' (संवेदन संगठन) की चर्चा किया करते थे। पिछले 20-25 सालों के तीव्र परिवर्तन ने हमारी संवेदनाओं में एक असम्बद्धता तो पैदा की ही है। जैसे इलियट के समय में भी हुई थी। आज हम तेजी से उपभोक्तावादी समाज में बदलते जा रहे हैं। हमारी पिछली पीढ़ी के महान सिनेमाकार और राजनीतिक कार्यकर्ता पियरे पासोलिनी ने फासीवाद के नए स्वरूप को उपभोक्तावाद में बदलते देखा था। देख लिया था, इसलिए उनकी हत्या कर दी गई और फासीवाद के इस आसन्न संकट के काल में पुराने और नए के संधिकाल में हमारी चेतना आक्रांत है। इसलिए मानव विरोधी विचारधाराओं के द्वारा चेतना पर छापी इस धुंध को और अधिक मिस्टीफाई (रहस्यात्मक) करने का षडयंत्र रचा जा रहा है। खण्ड-खण्ड पाखण्ड

की दृष्टि एक ऐसी मानवविरोधी विचारधारा है। ताज्जुब नहीं, इस विचारधारा का पहला हमला यथार्थवाद पर है। ऐसा क्यों है मानव विरोधी विचारधाराओं का पहला हमला समय-समय पर यथार्थवाद के खिलाफ होता है! क्योंकि यथार्थवाद और चाहे जो हो उसके मूल में है मानव-विरोधी मिस्टीफिकेशन को, उसके धुंध को साफ कर देना। डी-मिस्टीफिकेशन यथार्थवाद की एक प्राथमिक शर्त है। जहां से बुर्जुआ सोसायटी के लिए अपने-आप यह शैली खतरनाकसिद्ध हुई है। बहरहाल, उसके अलग-अलग ट्रेडीशन हैं, अंग्रेजी ट्रेडीशन, फ्रेंच ट्रेडीशन खैर! लेकिन सीधे डी-मिस्टीफिकेशन एक महत्वपूर्ण काम है। मूल्य-निर्णय का सम्बन्ध क्या इस डी-मिस्टीफिकेशन से है। मिस्टीफिकेशन की यह प्रक्रिया बदलाव की नई ताकतों के प्रति रचना-प्रक्रिया में मूल्यबोध की तरह आती है। लेखक की प्राथमिक संवेदना पर पाठ की प्रक्रिया तक इसका निरंतर विकास होता है। ब्रेख्त के लिए रचना-प्रक्रिया के साथ चलने वाला यह डी-मिस्टीफिकेशन एक क्रियावान, उत्कंठापूर्ण, प्रयोगात्मक भी है या एक शब्दों में कहें तो सामाजिक संस्थाओं और भौतिक दुनिया के प्रति, वैज्ञानिक दृष्टि के प्रति उन्मेष है। यथार्थवाद इसी वैज्ञानिक दृष्टि को प्रोत्साहित करता है, प्रयोग स्तर पर भी और यह प्रक्रिया त्रिस्तरीय है। पहली रचना में पात्रों और उसकी काल्पनिक दुनिया के बीच। दूसरी, रचना और पाठक के बीच। तीसरी, रचना-रचनाकार का अपने कच्चे माल और टेक्निक के बीच। यथार्थवाद का यह त्रिआयामी व्यवहार (प्रैक्टिस) परंपरागत अनुकरणों और उनके शुद्ध प्रतिनिधिमूलक केटेगरी को ध्वस्त कर देता है। जिसके प्रभाव में आजकल का अधिकांश दलित लेखन है। फिर बकौल जेम्सन, 'रीडिंग इज ए सिम्बोलिक एक्ट'। इस 'सिम्बोलिक एक्ट' के प्रति सजग होना, आत्म सजग होना जरूरी है। यह सजगता एक सचेतन क्रिया है। इस क्रिया में अपने राजनीतिक अवचेतन की संरचना के प्रति सजगता भी शामिल है। दिक्कत यह है कि क्या हमारा लेखन और हमारी आलोचना खुद आत्मसजग है! 'हत्यारे' कहानी का पाठ आज के समय में यही चुनौती हमारे समक्ष रखता है। बात सिर्फ क्लास नोटिस को उद्घाटित करने या अलग-अलग विमर्शों की लिहाज से उसकी व्याख्या की नहीं है। बल्कि रचना की विकासमान

सम्पूर्णता का है। इसीलिए उसकी हिस्टोरीसिटी स्थिति का है। विषय से विचार तक की यात्रा का खतरा दरअसल हिस्टोरीसिटी के अन्वेषण का खतरा है। अमरकांत की कहानी में यह हिस्टोरीसिटी उसके मूल्य-निर्णय की प्रक्रिया में आयी है। यह हिस्टोरीसिटी न तो समकालीनता का यूनीफाइंग फैक्टर वरन् हमारे और रचना के कलांतर का भी एक यूनीफाइंग फैक्टर है। यह रचना से पाठक तक लगातार जारी है इस अर्थ में यह हिस्टोरीसिटी विद्आऊट हिस्ट्री है और इसी अर्थ में यह वर्तमान की वर्तमानता है। इसी अर्थ में 'हत्यारे' कहानी खुद अमरकांत की कहानी-कला की आलोचना है। उसमें एक ब्रेक है अमरकांत के कहानी संसार में एक घटना की तरह। हत्यारे कहानी का अंत कुछ इस तरह होता है, 'झोपड़ियों से कुछ व्यक्ति निकलकर युवकों के पीछे दौड़े। तारकोल की सड़कें जन-शून्य थी। दोनों युवक अरबी घोड़ों की तरह दौड़ रहे थे। वे कभी बाएं घूम जाते, कभी दाएं। पीछा करने वालों में एक फुर्तीबाज व्यक्ति तीर की तरह उनकी ओर बढ़ रहा था।... जो व्यक्ति 'हाय मार डाला' कहके लड़खड़ा कर गिर पड़ा। उसके बाद दोनों पुनः तेजी से भाग चले। तब बिजली का खंभा आया तो रोशनी में उनके पसीने से लथपथ ताकतवर शरीर बहुत सुंदर दिखाई देने लगे। फिर वे न मालूम किधर अंधेरे में खो गए।' जिस अंधेरे में दोनों न जाने कहां गुम हो गए यह वही अंधेरा है जो मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' है। जहां वे डोमा जी उस्ताद को देख लेते हैं। हम अपने अंधेरे में क्या देख रहे हैं! यह क्या हमारे मूल्य-निर्णय से तय नहीं होता! दो अवांतर प्रसंग छोटे-छोटे एक, हमारा एक कलाकार मित्र अनुपम मूवमेंट में पेंटिंग्स करता है। उसकी समस्या है। हालांकि यह कहानी के बाहर का प्रसंग है लेकिन कला का महत्वपूर्ण प्रश्न है और यथार्थवाद का भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। वह कहता है कि हम जिस शैली में अब तक पेंटिंग्स बनाते आए हैं अब यथार्थ उसी शैली में बढ़ होकर हमारे सामने आ रहा है। याद कीजिए मुक्तिबोध की भी यही समस्या थी। वह कहता है कि मैं अपने ही शिल्प में बंधने के चलते यथार्थ को नहीं देख पा रहा हूँ- जो परिवर्तनशील यथार्थ है। वह अपना एक अनुभव बताता है वह एक बार स्त्री के जीवन की किसी परिस्थिति पर बड़े भावावेग से एक चित्र बना

रहा होता है। पेंटिंग्स पूर्ण नहीं हो पा रही है। वह परेशान है। अचानक इस परेशानी में वह अपना शरीर काटकर खून से पेंटिंग्स एक हिस्सा बना देता है और अपने बाल नोचकर पेंटिंग्स में जहां-तहां चिपका देता है और कहता है मुझे बहुत शांति मिली है। कलाकार रचना में बॉडी प्रजेन्स (शरीरी उपस्थिति) को खोजना चाह रहा है। पेंटर पेंटिंग्स में अपनी उपस्थिति खोजने की कोशिश में है। यह बॉडली प्रजेन्स का क्राइसिस कला का एक वास्तविक अनुभव तो है, लेकिन यह मिसप्लेस्ड क्वेश्चन है। यह प्रब्लम मिसप्लेस्ड है क्योंकि पॉलिटिक्स में जैसे वह अपनी प्रजेन्स को आंदोलन के भीतर देख रहा है; रचना, जो प्रोटेस्ट के भीतर से निकलने वाली है। रचना इसलिए महत्वपूर्ण भी है उसके भीतर भी अपना बॉडली प्रजेन्स ढूंढ रहा है। राजनीति की दुनिया का कला की दुनिया से जो सम्बन्ध होगा, वह क्या होगा? क्या रचना-प्रक्रिया में जिसको मुक्तिबोध कहते हैं, जब तक तटस्थता नहीं होगी तब तक तदाकारिता सम्भव नहीं है। प्रश्न वहां अटैच होकर के बॉडली प्रजेन्स का, स्वानुभूति का नहीं है प्रश्न डिटैचमेंट का है। यह डिटैचमेंट लग सकता है कि कोई आधुनिकवादी तर्क हो उपभोक्तावादी सर्जक मन का। दूसरा प्रसंग, नामवर सिंह ने हाल-फिलहाल पप्पू यादव की किताब का लोकार्पण किया। पप्पू यादव 'हत्यारे' कहानी के नायक भी हैं। प्रश्न है, उन्होंने 'हत्यारे' कहानी के बारे में कहा कि वहां मूल्य-निर्णय महत्वपूर्ण है। यह बात तो सही है दुनिया भर में अपराधियों की डायरियां आदि काफी लोकप्रिय हुई हैं; उस पर विचार करना एक अलग बात है। लेकिन उसकी किताब को लोकार्पण करना एक राजनीतिक काम है। इसमें आपका मूल्य-निर्णय होगा कि नहीं! यानि रचना और आलोचना के प्रश्न जीवन के प्रश्न होंगे कि नहीं! यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। शायद इसी अर्थ में प्रेमचंद कहते थे कि हर कोई चाहता है कि मेरा जीवन एक कहानी बन जाए।

(कथा समूह द्वारा आयोजित 'कथा मंच' में कथाकार मार्तण्ड द्वारा 'अमरकांत की कहानी हत्यारे और आज का समाज' पर इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान, लिप्यंतरण-श्रीकांत पाण्डेय। आगे इसी संदर्भ में प्रस्तुत है अमरकांत लिखित 'हत्यारे' कहानी)

## हत्यावे

अमरकांत

क्वार की एक शाम को पान की एक दुकान पर दो युवक मिले। आकाश साफ, नीला और खुशनुमा था और हवा आने वाले मौसम की स्मृति में चंचल। एक युवक गोरे रंग का, लम्बा तगड़ा और बहुत सुंदर था, यद्यपि उसकी आँखें बहुत छोटी-छोटी थीं। वह सफेद कमीज और आधुनिक फैशन की एक ऐसी तंग पैंट पहने था, जिसको फाड़कर उसके बड़े-बड़े और सुडौल चूतड़ बाहर निकलना चाहते थे। पैरों में जूते थे किंतु मोजे नहीं थे और बाल उलटे फिरे थे। दूसरा युवक साँवला, ठिगना और तंदुरुस्त था। उसकी दाढ़ी-मूँछ अपने साथी की तरह सफाचट थी, पोशाक भी उसी ढंग की थी, किंतु सिर पर कश्मीरी टोपी थी, पैंट का रंग चाकलेटी न होकर भूरा था और कमीज की दो बटनें खुली होने के कारण बनियान साफ दिखाई दे रही थी।

“हलो, डियर!”

“हलो, सन!” गोरा पास आकर खड़ा हो गया।

“इतना लेट क्यों, बेटे?”

“भई, बोर हो गए!”

“कोई खास बात?”

“यही नेहरू है, यार! आज उसका एक और पत्र मिला है।”

“आई सी!” साँवले की आँखों और होंठों के कोरों में हास्य की हल्की सिकुड़ने पैदा होकर विलीन हो गई।

“हाँ, डियर, यह आदमी मुझको परेशान कर रहा है। मैंने बार-बार कहा कि भाई मेरे, भारत की प्राइम मिनिस्ट्री किसी दूसरे व्यक्ति को दो, मेरे पास बड़े-बड़े काम हैं। लेकिन मानता ही नहीं।”

“क्या कहता है?”

“वही पुराना राग। इस बार लिखा है- अब मैं थक गया हूँ। गाँधी जी देश का जो भार सौंप गए, उसको मैं आपके मजबूत कंधों पर रखना चाहता हूँ। इस अभागे देश में आज आपसे काबिल और समझदार दूसरा कोई भी नहीं है!”

दो लट्टू तेजी से नाचकर सहसा गिर गए हों, इस तरह वे कुछ क्षण हँसकर गंभीर हो गए।

“और भी तो नेता है?” साँवले ने पूछा।

“नेहरू देश के और भी नेताओं को निकम्मा और बातूनी समझता है।

तुमको तो मालूम है ना कि लास्ट टाइम जब मैं दिल्ली गया था तो नेहरू ने अशोक होटल में आकर मुझसे मुलाकात की थी?

“नहीं! तुम हरामी की औलाद हो, कोई बात बताते भी तो नहीं!” साँवले की आँखें बटन की तरह चमकने लगीं।

“नेहरू हाथ पकड़कर रोने लगा। बोला, आज देश भारी संकट से गुजर रहा है। सभी नेता और मंत्री बेईमान और संकीर्ण विचारों के हैं। जो ईमानदार है उनके पास अपना दिमाग नहीं है। मेरी लीडरशिप भी कमजोर है। मेरे अफसर मुझको धोखा देते हैं। जनता की भलाई के लिए मैंने पाँचसाला योजनाएँ शुरू कीं, लेकिन ब्लाकों के सरकारी कर्मचारी अपने घरों को भरने में लगे हैं। मैं जानता हूँ कि सारे देश में कुछ लोग लूट-खसोट मचाए हुए हैं, लेकिन मैं उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं कर सकता।”

“अरे!”



“किसी ने कहना मत साले!...उसने अंत में कहा— देश को आज केवल आपका ही सहारा है। आप ही पूँजीपतियों, मंत्रियों और अफसरों के षड्यंत्र को खत्म करके समाजवाद कायम कर सकते हैं!”

“अब तुम क्या सोच रहे हो?”

“ऐसे छोटे-मोटे काम माबदौलत नहीं करते।”

“यार, तुमको देश की खातिर कुछ तो झुकना ही चाहिए!”

“नहीं, बे! मैं सिद्धांतों का आदमी हूँ। नेहरू को ट्रंक कॉल करके आ रहा हूँ, इसीलिए तो देर हुई।”

“अच्छा?”

“हाँ! मैंने साफ-साफ कह दिया— भैया, देश की प्राइम मिनिस्ट्री मुझे मंजूर नहीं। मेरे सामने बहुत बड़े-बड़े सवाल हैं। सबसे पहले तो मुझे विश्वशांति कायम करनी है!”

दोनों दाँत खोलकर हँसने लगे।

“तुम्हारा सोचना एक तरह से ठीक है। हाँ, मुझको भी एक मामूली सी बात याद आ गयी। कल मुझको भी अमेरिका के प्रेसीडेंट केनेडी का तार मिला था।”

“क्या लिखता है?” गोरे की आँखें सिकुड़ गईं।

“मुझको अमेरिका बुला रहा है। उसने लिखा है— आप जैसा साहसी व्यक्ति आज संसार में कोई दूसरा नहीं। आप आ जाएँगे तो अमेरिका निश्चित रूप से रूस को युद्ध में हरा देगा।”

“तुमने कोई जवाब दिया?”

“मैंने भी केबुल कर दिया कि मैं राष्ट्रीय विचारों का युवक हूँ और इस घोर संकट के समय किसी भी हालत में दूसरी जगह नहीं जा सकता।”

“अच्छा किया। वैसे वह शख्स है बहुत सीधा—साधा। मेरी तो बड़ी इज्जत करता है। मैंने ही उससे तुम्हारी सिफारिश कर दी थी!”

इस पर वे एक ही साथ इस तरह सिर नीचा करके हँसने लगे, जैसे अपनी निकली छातियों को देखकर खुश हो रहे हों। परंतु बगल में खड़े एक पैंटधारी सज्जन की खिलखिलाहट सुनकर फौरन गंभीर हो गए। उनकी आँखें सिकुड़ गईं, होंठों में दृढ़ता आ गई और गर्दन तन गई। इसके बाद गोरे ने अजीब शान से आगे बढ़कर पानवाले से कैप्स्टन का डिब्बा ले लिया। फिर दोनों ने एक-एक सिगरेट सुलगाई और अंत में शंटिंग करने वाले रेल के

इंजन की तरह लापरवाही से धुआँ छोड़ते हुए वहाँ से चलते बने।

एक चौड़ी और साफ-सुथरी तारकोल की सड़क के दोनों ओर भव्य दुकानें थीं। अगल-बगल दोनों फुटपाथों पर हर उम्र, पेशा और रंग-रूप के स्त्री-पुरुषों की उत्साही भीड़ें विपरीत दिशाओं को सरक रही थीं। वे बाई पटरी से आगे बढ़ रहे थे। उनके कुल्हें खूब मटक रहे थे। उनके हाथ कुछ फैलकर इस तरह आगे पीछे हो रहे थे, जैसे वे खड़े होकर तैर रहे हों। वे अक्सर अपने दाएँ और बाएँ अत्यधिक नाराजी से घूरते थे। एक बार जब भड़कीले वस्त्रों से सज्जित कुछ छात्राओं का एक दल सुगंध उड़ाता हुआ बगल से गुजरा तो उन्होंने होंठ सिकोड़कर चुंबन की आवाजें पैदा कीं। जब वे बाजार के दूसरे छोर पर पहुँच गए तो उन्होंने सरदार की दुकान के सामने खड़े होकर बादाम का शर्बत पिया, बनारसी पान वाले के यहाँ जाकर चार-चार बीड़े मगही पान खाए और अंत में बायीं पटरी से वापस लौटने लगे।

“उस लौंडिया को पहचान रहे हो?”

“नहीं,” साँवले ने पीछे घूमकर एक दुबली-पतली लड़की को जाते हुए देखा।

“तुम साले गदहे हो। जब मैं प्रधानमंत्री बनूँगा तो तुमको सेक्रेटेरियट का भंगी बनाऊँगा! बेटे, यह है चंद्रा सिनहा। एम. ए. इंग्लिश टॉप करके अब रिसर्च कर रही है। वह मुझको अपना पति मान चुकी है।

“या पुत्र?”

“मजाक नहीं, डियर! कई बार चरण पकड़कर रो चुकी है। लेकिन तुम तो जानते ही हो कि मैं बाल-ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ!”

“तुम्हारे बाप भी तो बाल-ब्रह्मचारी ही थे!”

दोनों के मुँह कानों तक फैल गए।

“यार, तुम हर बात को नॉनसीरियस बना देते हो! मैं देश की कोटि-कोटि जनता के कल्याण के लिए अपील करता हूँ कि तुम गंभीर बनो और अनुशासन में रहो!”

“अच्छा, फरमाइए, हुजूर शाहंशाह हरामी-उल-मुल्क।”

“तो हे अर्जुन, सुनो! एक रोज प्रोफेसर दीक्षित मेरे सामने आकर गिड़गिड़ाने लगे!”

“इंगलिश डिपार्टमेंट के हेड?”

“हाँ बे, और कौन प्रोफेसर दीक्षित हैं इस अखिल विश्व में?”

“गलती हुई, सरकार!”

“आते ही हाथ जोड़कर बोले, ‘‘ इस संसार में आप ही मेरी मदद कर सकते हैं। चंद्रा सिनहा के बिना मैं एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकता। वह मामूली स्टूडेंट थी, लेकिन मैंने ही उसको टॉप कराया। मैंने उससे कई बार कहा है कि तुमको दो वर्ष में ही डाक्टरेट दिला दूँगा। मैंने हर दर्जे के लिए पाठ्य-पुस्तकें और कुंजियाँ लिखकर जो लाखों कमाये हैं, उनको चंद्रा के चरणों पर न्यौछावर करने को तैयार हूँ। लेकिन वह तो मेरी ओर देखती भी नहीं। वह आपके ही नाम का माला जपती रहती है। आप समझा देंगे तो कहना मान जायेगी!’”

“तुम तो, बेटा, फिर डरे होंगे? तुम्हारा एक पीरियड वह लेता जो है!”

“हुश! सारा देश जिसकी पूजा करता है वह उस पिद्दी से डरेगा? मैंने डॉक्टर उससे पूछा- बच्चू, पाठ्य-पुस्तकों का रोब तो बहुत दिखाते हो, लेकिन क्या तुम इससे इंकार कर सकते हो कि तुम्हारी सभी पुस्तकें तुम्हारे शिष्यों की लिखी हुई हैं?”

“फिर क्या बोलिस?”

“बोलता क्या? थर-थर कांपने लगा। मेरे चरण पकड़कर प्रार्थना करने लगा कि मैं यह बात किसी से न कहूँ! मैंने कड़ककर उत्तर दिया- मैं जानता हूँ कि तुम बड़े-बड़े अफसरों और मंत्रियों की चापलूसी करते हो। तुमने अनगिनत लड़कियों की जिंदगी इसी तरह चौपट की है। चंद्रा सती-साध्वी नारी है, अगर आइंदा तुमने उसको बुरी नजर से देखा तो मुझे बाध्य होकर देश की शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा!”

सहसा एक बुकस्टाल ने उसका ध्यान आकर्षित किया, जिसके सामने एक जवान, गोरी और सुंदर महिला खड़ी थी। उसका जूड़ा सर्प की कुंडली की तरह पीछे बँधा था और उसके पुष्ट शरीर पर गेरुए रंग की एक रेशमी साड़ी सयत्न लापरवाही के साथ लिपटी थी, जिससे वह कोई बौद्ध भिक्षुणी की तरह दिखाई दे रही थी। वह ‘ईक्स विकली’ को ध्यानपूर्वक उलट-पुलटकर देख रही थी, परंतु उसके मुख पर इस आशा का भाव था कि लोग उसको अत्यधिक आधुनिक और प्रबुद्ध समझें। वे भी मुँह

से धीरे-धीरे सीटी की आवाजें निकालते हुए निकट आकर खड़े हो गए और कुछ पत्र-पत्रिकाओं को उलटने-पुलटने लगे। उन्होंने बारी-बारी से ‘रेखा’, ‘गोरी’, ‘रीडर्स डाइजेस्ट’, ‘इलेस्ट्रेटेड वीकली’, ‘लाइफ’, ‘मनोहर कहानियाँ’, ‘फिल्म फेयर’, ‘जासूस महल’ आदि पत्रिकाएँ देखीं। बीच-बीच में वे उस महिला को घूरते जाते थे और कोई बात कहके जोर से हँस पड़ते थे।

“यार, लास्की भी अजीब आदमी था,” गोरे ने कहा।

“क्यों?”

“तुम तो जानते ही हो कि ‘ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स’ लिखने के पहले वह मुझसे मिलने आया था।”

“कुछ-कुछ याद आ रहा है,” साँवला महिला की ओर तिरछी दृष्टि से देखकर जोर से हँस पड़ा।

“वह एक रात को चुपके से मेरे घर पहुँचा। गिड़गिड़ाकर बोला- जब तक आप मदद न करेंगे मेरी किताबें लिखी नहीं जाएगी! मुझे दया आ गयी कि आदमी शरीफ है और इसके लिए कुछ कर देना चाहिए। मैंने कहा- भाई, मेरे पास इतना समय तो नहीं कि तुम्हारे लिए पूरी पुस्तक लिख दूँ। हाँ, रोज मैं रात को दो घंटे बोल दूँगा और तुम नोट कर लेना।”

“तैयार हुआ।”

“अरे, बड़ा खुश हुआ! मैंने दस दिन में ही पूरी किताब डिक्टेट करा दी। वह कहने लगा कि पुस्तक के असली लेखक आप ही हैं और उस पर आपका ही नाम जाना चाहिए, लेकिन मैंने जवाब दिया कि मैं सत्य और अहिंसा के देश का रहने वाला हूँ और मेरी सेवाएँ सदा निःस्वार्थ होती हैं!”

उस महिला ने शान से गर्दन घुमाकर उनकी ओर घूरती नजर से देखा। फिर वह ‘ईक्स वीकली’ खरीदकर उपेक्षापूर्ण भाव प्रकट करती हुई चली गई। दोनों ने जोर का ठहाका लगाया। फिर साँवला शीघ्र ही गंभीर होकर गुनगुनाने लगा- मुझे पलकों की छाँव में रहने दो...

उन्होंने बाजार के दो और चक्कर लगाए। तब तक अंधेरा छा गया था। सभी दुकानें रंग-बिरंगी रोशनियों से जगमगाकर रहस्यमय स्वप्नलोक की तरह प्रतीत हो रही थीं। वे फिर उसी पान की दुकान पर आकर खड़े हो गये। इस बार साँवले ने सिगरेट खरीदी।

“डियर हम काफी विदेश भ्रमण कर चुके। अब

हमको प्यारे स्वदेश की भी सुध लेनी चाहिए।” गोरा जमुहाई लेकर बोला।

“हाँ, मेरी भी पवित्र आत्मा स्वदेश के लिए छटपटा रही है।”

“लेट अस गो!”

कुछ दूर चलकर वे ‘दी प्रिन्स’ में घुस गये। काउंटर पर बड़ी-बड़ी मूछों वाला एक अधेड़ व्यक्ति अत्यधिक तटस्थ और विनम्र भाव से बैठा था। उसने झुककर उनको सलाम किया। दाहिनी ओर चार केबिन बने हुए थे। पहले में चार व्यक्ति बैठे हुए थे और जोर-जोर से बातें करके ठहाके लगा रहे थे, जिनको देखते ही वे दोनों अत्यधिक गंभीर हो गये और उनके चेहरों पर उच्चता और उपेक्षा के भाव अंकित हो गए। वे अंतिम केबिन में जाकर बैठ गए।

“क्या लोगे?” गोरे ने पूछा।

“देश का सामाजिक और नैतिक स्तर ऊँचा करना है, ब्रांडी ही चलने दो।”

“ऐ अद्धा और साथ में अभी...उबले हुए अंडे,” गोरे ने आर्डर दिया। जब बैरे ने सामान लाकर मेज पर रख दिया तो गोरे ने दो गिलासों में बराबर-बराबर मात्रा में शराब ढाली। साँवले ने चुपके से अपने गिलास की कुछ शराब गोरे के गिलास में उड़ेल दी और अंत में झेंपकर हँसने लगा।

“साले! तुम कायर हो।” गोरा बिगड़ गया, “मैंने सोचा था कि प्राइम मिनिस्टर होने पर मैं तुमको भ्रष्टाचार-निवारण-समिति और जातिभेद-उन्मूलन-समिति का अध्यक्ष बना दूँगा। लेकिन जब तुम इतनी पी नहीं सकते तो अवसर आने पर घूस कैसे लोगे, जालसाजी कैसे करोगे, झूठ कैसे बोलोगे? फिर देश की सेवा क्या करोगे, खाक?”

दोनों जोर-जोर से ठहाके लगाने लगे। फिर उन्होंने सिगरेट सुलगा ली। वे शराब की चुस्की लेने के बाद अंडे खाकर कुछ देर तक अपनी नाक की सीध में महत्त्वपूर्ण और बुजुर्गाना ढंग से देखते थे और बाद में सिगरेट के गहरे कश खींचकर धुँआं छोड़ने लगते थे।

जब वे बाहर निकले तो उनके चेहरे तमतमा रहे थे। फुटपाथों पर की भीड़ें हल्की पड़ गई थीं। गोरे ने हाथ ऊँचे करके अपने शरीर को तोड़ा।

“तुम्हारी लीडरशिप का मजा न आया। आज तो

कुछ रचनात्मक कार्य होना चाहिए।”

“तो तैयार हो जाओ। मैं देश के चौमुखी विकास और विश्वशांति की स्थापना के लिए जो कदम उठाने जा रहा हूँ, उसमें तुम्हारे जैसे नौजवान की मदद चाहिए! अगर तुम हिम्मत से काम लोगे तो माबदौलत खुश होकर तुम्हें होम मिनिस्टर बना देंगे!”

“जो आज्ञा, हुजूर!”

“तो आओ, बेटा, रिक्शे पर बैठो।”

कुछ देर बाद उनका रिक्शा एक छोटी-सी बस्ती के पास रुका, जिसमें खपड़ैल और फूस के पंद्रह-बीस छोटे-छोटे मकान थे। उस बस्ती में चौका-बर्तन करने वाले कमकर, कुछ रिक्शा चालक और इसी किस्म के मजदूर रहते थे। वह स्थान विश्वविद्यालय से लगभग एक मील दूर शहर की सीमा पर स्थित था, इसीलिए दूर तक कोई अन्य बस्ती नहीं दिखायी देती थी। नुककड़ पर पान की ऐसी दुकान थी, जिसमें अन्य छोटे-मोटे सामान भी मिलते थे। झोंपड़ियों से मद्धिम मटमैली रोशनियाँ झाँक रही थीं। रात अँधेरी थी, परंतु मौसम बहुत सुहावना था और निःशब्द चलने वाली पवित्र, स्वच्छ और शीतल हवा शरीर और मन को पुलक से भर देती थी।

वे पहली झोपड़ी में ही घुसे। बाहर छोटे-से बरामदे के बाईं ओर दीवार से सटकर नाव की तरह गहरी एक पुरानी बँसखट पड़ी हुई थी। दाहिनी तरफ एक कोने में एक औरत चूल्हे के सामने बैठी खाना बना रही थी। वह चौंकर खड़ी हो गई, परंतु गोरे को तत्क्षण पहचानकर सज्जनतापूर्वक हँसने भी लगी, जिससे उसके गालों के बीच में गड्ढे पड़ गए, उसकी उम्र चौबीस-पच्चीस की होगी। रंग करीब-करीब काला था, परंतु शरीर मजबूत था और देखने में बुरी भी नहीं थी। वह एक मैली-कुचैली साड़ी पहने थी और आँचल की अस्त-व्यस्तता के कारण उसके उन्नत और पुष्ट उरोज दिखाई दे रहे थे। वह एक सीधी-सादी और सरल स्वभाव की स्त्री प्रतीत होती थी।

“बहुत दिन बाद दरसन दिया? बैठिए।”

“यहाँ बैठकर क्या होगा, जी? गोरा हँस पड़ा।

“तो भीतर चलिए!”...वह भी हँसने लगी।

“आज तुम्हारी सेवा में विश्व के एक महान नेता को लाया हूँ।”

“मुझे तो आपकी बात समझ में नहीं आती। कौन

हैं ये?" उसने अदा के साथ साँवले की ओर देखा।

"ये अखिल विश्व लोफर संघ के अध्यक्ष हैं। इनको हर तरह से खुश करना है।"

"मेरे लिए तो सभी बराबर हैं। किसी तरह की शिकायत की बात नहीं मिलेगी।" वह फिर हँसने लगी।

"तुम्हारा दोपाया जानवर कहाँ है?"

"कहीं घास चरने गया होगा।" वह खिलखिला पड़ी।

"तो क्या देर है?"

"कुछ नहीं। दाल चुरती रहेगी।"

वह सहसा व्यस्त होकर चूल्हे के सामने बैठ गई। उसके होंठ अनजान में ही एक शिष्ट, हल्की मुस्कराहट से फैल गए थे। उसने एक लकड़ी निकालकर आँच धीमी कर दी, बटलोई की दाल को करछुल से चलाया और अंत में आश्वस्त होकर उठ खड़ी हुई।

गोरा बाहर बँसखट पर बैठा ऊँघता-सा रहा। थोड़ी देर बाद औरत तेजी से बाहर आई और बटलोई को चूल्हे पर से उतारकर पुनः कोठरी में चली गई। अब बाहर बैठने की बारी साँवले की थी। इस बीच बरामदे की ताक पर रखी ढिबरी की रोशनी किसी बीमार की फीकी मुस्कराहट की तरह टिमटिमाती रही।

"दो-दो रुपये हुए न?" बाहर निकलकर गोरे ने हँसकर पूछा।

"आज तो चार-चार लूँगी! बड़ा परेशान किया है आप लोगों ने!" वह आँखें मटकाकर बोली।

"तुम तो पूँजीपति हो! तुमको किस बात की कमी है? अच्छा, आठ-आठ आना और। लेकिन दस रुपये का नोट है।"

"रुपये तो मेरे पास नहीं हैं।"

"पानवाले से भुना लेते हैं।"

"लाइए मैं ले आती हूँ।"

"अरे, तुम देश की महान कार्यकर्त्री हो, तुम कहाँ कष्ट करोगी? अभी आते हैं।"

"अच्छी बात है," वह हँसने लगी। वे झोपड़ी से

बाहर निकलकर पान की दुकान ओर बढ़े। वह औरत बरामदे में खड़ी उनको देख रही थी।

"साले जूते निकालकर हाथ में ले लो।" गोरे ने दुकान के निकट पहुँचकर फुसफुसाहट के स्वर में कहा।

"क्यों?" साँवला चौंक उठा।

"मेरे आदेश का चुपचाप पालन कर। आज समय आ गया है कि हमारे नवयुवक बुद्धिमानी, मौलिकता, साहस और कर्मठता से काम लें। मैं पूर्ण अहिंसात्मक तरीके से उनका पथ-प्रदर्शन करना चाहता हूँ।"

दोनों ने झटपट अपने जूते उतारकर अपने हाथों में ले लिए।

"भाग साले! आर्थिक और सामाजिक क्रांति करने का समय आ गया है!"

वे सरपट भाग चले। साथ में वह ही-ही हँसते भी जा रहे थे। वह औरत झोपड़ी के बाहर निकल आई थी और छाती पीट-पीटकर विलाप करने लगी थी, "अरे, लूट लिया हरामी के बच्चों ने! उन पर बज्जर गिरे...."

झोंपड़ियों से कुछ व्यक्ति निकलकर युवकों के पीछे दौड़े। तारकोल की सड़कें जन-शून्य थीं। दोनों युवक अरबी घोड़ों की तरह दौड़ रहे थे। वे कभी बाएँ घूम जाते और कभी दाएँ। पीछा करने वालों में से एक फुर्तीबाज व्यक्ति तीर की तरह उनकी ओर बढ़ा जा रहा था। वह समीप आता गया। अब वह समय दूर नहीं था जब वह आगे लपककर साँवले रंग के युवक को पकड़ लेता, जो पीछे पड़ गया था। परंतु सहसा गोरा रुककर एक ओर खड़ा हो गया। उसने पैंट की जेब में से एक छुरा निकालकर खोल लिया, जो उसके हाथ में चमक उठा। फिर फुर्ती से आगे बढ़कर उसने छुरा उस व्यक्ति के पेट में भोंक दिया, जो 'हाय मार डाला' कहके लड़खड़ाकर गिर पड़ा।

इसके बाद दोनों पुनः तेजी से भाग चले। जब बिजली का खंभा आया तो रोशनी में उनके पसीने से लथपथ ताकतवर शरीर बहुत सुन्दर दिखाई देने लगे। फिर वे न मालूम किधर अँधेरे में खो गए।

ओड़िया कहानी

## गोपनीय पत्र

मूल : प्रतिभा राय

अनुवादक : पूर्णचन्द्र रथ

उसी अज्ञात भद्र महिला के गोपनीय पत्र ने गांधीवादी स्वाधीनता संग्राम सेनानी विप्रचरण और उनके आदर्श पुत्र संग्राम के सिद्धांत और विश्वास को पूरी तरह से हिला दिया था। शादी में जाति, दहेज और जन्म पत्रिका जैसी बातों पर कतई विश्वास नहीं करने वाले विप्रचरणजी ने खुद अपनी मंझली बेटी श्रीलता की बिना दहेज वाली सुनिश्चित शादी तोड़ दी और प्रण किया कि दहेज नहीं चाहने वाले किसी वर-पात्र को वे अपनी कन्या नहीं देंगे। श्रीलता के भैया ने भी इस प्रण पर अपनी मोहर लगाई। यानी श्रीलता और उसकी दो छोटी बहनों के विवाह में दहेज दिया जाएगा, यह शर्त होगी। स्थानीय लोग विप्रचरणजी के व्यवहार में आए इस बदलाव से आश्चर्य में पड़ गये। क्योंकि विप्रबाबू दहेज-प्रथा के विरुद्ध जीवन भर संघर्ष ही करते रहे। गाँव की कई कन्याओं का बिना-दहेज विवाह कराने में मध्यस्थता करके वे कामयाब होते रहे। इसलिए अपनी बड़ी बेटी की शादी भी उन्होंने दहेज नहीं देने के शर्त के साथ की थी। दहेज नहीं लेंगे की शर्त के साथ बहू घर में लाए। तो आज फिर ऐसा क्या हो गया कि वे इस तरह बदल गए। विप्रबाबू जैसे आदर्श व्यक्ति एवं उनके सुपुत्र रातोंरात किसी तरीके से करोड़पति हो गए हों, इसकी संभावना भी नहीं थी। आसपास के गाँवों में पारिवारिक सामाजिक विवाद – झगड़े सुलझाने जब विप्रबाबू जाते तो किसी के यहाँ चाय भी ग्रहण नहीं करते। हालांकि गाँव के लोग वकीलों के माध्यम से मुकदमा दायर कर, झगड़ों को सुलझा सकते थे पर ऐसा कोई उदाहरण वैवाहिक मामलों का उस इलाके में सामने नहीं आया था। इसलिए ग्रामीण बन्धु यदा-कदा कृतज्ञता जतलाते, घर के बगीचे में उगाई सब्जियाँ, पोखर की मछलियाँ, गाय का घी, बाटल भर लिए आ जाते, तो विप्रबाबू तुरंत उन वस्तुओं का वाजिब मूल्य उसे दे देते। कहते- ‘मामला सुलझ जाने के बाद इन चीजों को ग्रहण करने का मतलब है उत्कोच, घूस लेना। गाँव में लेना-देना तो चलता है, लेकिन आज आप ये सब लेकर क्यों आए हैं, मैं समझ सकता हूँ। इसलिए मेरा विवेक मुझे रोक रहा है उम्मीद है आप अन्यथा नहीं लेंगे।’

महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होने के नाते विप्रबाबू इलाके के सर्वमान्य थे। उन्होंने अपने विवाह के समय में भी दहेज नहीं लिया था। लेकिन बेटी की शादी तोड़कर ऐसी आदर्शहीन कड़ी शर्त अब क्यों इसके साथ जोड़ दिए ? पर इस बारे में विप्र बाबू से पूछे कौन ? लोग चुप रह गये। इस घटना के बाद लगता है इस अंचल की लड़कियाँ दहेज के दानवी जबड़े से अब मुक्त नहीं हो सकेंगी।

श्रीलता किन्तु अपने पिता और बड़े भाई की शपथ का रहस्य जानती थी। वह यह भी जानती थी कि उसके पिता मन से अभी भी दहेज विरोधी हैं। पर उस चिट्ठी ने सामयिक नजरिये के तहत पिता को दहेज-विहीन विवाह की उनकी दृढ़ता से डिगा दिया है। विप्रबाबू हमेशा कौल के पक्के रहे।

यह भी उनके आदर्श का एक आयाम था। परंतु शादी की तारीख तय कर चुके विप्रबाबू का वचन तोड़ने के पीछे भी उसी महिला का वो संक्षिप्त पत्र था। लेकिन वह पत्र विप्रबाबू के लिए वांछित नहीं था। संबोधित था या श्रीलता के लिए। जबकि श्रीलता उस विवाहित महिला को जानती भी नहीं थी। पत्र पिता के मार्फत उसके नाम आया होने की वजह से लिफाफा खोले बिना, उसे उन्होंने अपनी तालीमयाप्ता पुत्री श्रीलता की ओर बढ़ा दिया था। चिट्ठी खोलकर पढ़ने के बाद गुमसुम श्रीलता ने उसे माँ के हाथों दे दिया था। उसके बाद सब उलट-पुलट हो गया।

श्रीलता भी अपने पिता के संस्कारों से दीक्षित थी। दहेज चाहने वाले दूल्हों के परिवार वालों से वह नफरत करती थी। वे कितने भी अमीर क्यों न हों, उन्हें 'छोटा आदमी' मानती थी। पिता मना करें इसके पहले वह खुद साफ मना कर देती थी। लोग सोचते, चार बेटियों के पिता विप्रबाबू की बेटियाँ परिवार के इसी आदर्श की वजह से चारदीवारी में कैद, बूढ़ी हो जाएंगी। दहेज के बिना कहाँ के राजकुमार, उड़ने वाले घोड़े पर सवार होकर आएंगे और यूँ ही इनकी बेटियों को उठा ले जाएंगे। विप्रबाबू की एक ही बेटी की शादी किस्मत से, बिना दहेज के अच्छे वरपात्र के साथ सम्पन्न हुई थी। सौभाग्य से दहेज-विहीन करार के साथ श्रीलता का विवाह भी एक 'सत्पात्र' के साथ होना निश्चित हो चुका था। यही नहीं शादी की तारीख भी पक्की हो चुकी थी। लेकिन चिट्ठी पढ़ने के बाद भले-बुरे की परवाह किए बिना तत्काल विप्रबाबू ने तय विवाह-संबंध का विच्छेद कर दिया। तो क्या श्रीलता का कोई प्रेमी था? उस दौर में इस अंचल की लड़कियों का दूर शहर के हॉस्टल में रहकर कॉलेज की पढ़ाई करना असाधारण बात थी। और श्रीलता तो थी ही असाधारण। क्योंकि वह सिर्फ विप्रबाबू की बेटी ही नहीं थी। वह स्वयं भी 'नारीमुक्ति' की प्रवक्ता थी। 'नारीमुक्ति' या महिला स्वतंत्रता का अर्थ श्रीलता के लिए स्वेच्छाचारिता से नहीं था। महिलाओं के मानवीय अधिकारों के लिए वह अपनी तरफ से संघर्ष भी कर रही थी और नारी-पुरुष को लेकर किए जा रहे विभेद तथा द्वेष-भावना की वह घोर विरोधी थी। शास्त्र की दुहाई दे रहे रक्षणशील समाज का नारियों के प्रति कुत्सित विचार

और समाज की दोमुंही नीतियों को वह अपने स्कूली जीवन से ही कई दफे चुनौती दे चुकी थी। इस कारण उसका नाम ज्यादातर आदर्शवादी महिलाओं की सूची में नहीं रखा गया था। लेकिन उसके पिता उसे शाबाशी दिया करते। शादी-ब्याह के मामले में एक और बात श्रीलता के स्वाभिमान को चोट पहुँचाती, वह होता लड़की देखने का नाटक। देखने आए वर-परिवार के लिए जलपान, चाय वगैरह की प्लेट लेकर कन्या का प्रदर्शन, नौकरी करने वाले प्रार्थी की तरह, वधूपक्ष का तीन चार जनों के सवालों का उत्तर देना। और लड़के की माँ या फूफी का कन्या को घर के भीतर बुलाकर उसके पैर, पांव की उंगलियाँ, कमर यहां तक कि पिण्डलियों से ऊपर तक साड़ी उठाकर मुयाअना करना। जूड़ा खोलकर देखना कि कन्या केशवती है या उसके केश नकली हैं। हथेलियाँ दबाकर और अंगुलियाँ मरोड़कर देखतीं कि कोमल है या तनी-कठोर। इससे मानों उन्हें कन्या के व्यक्तित्व और घर के परिवेश का पता चल जाता। घर के भीतर से बाहर खिड़की के पास खड़ी कराकर देखतीं, कन्या वाकई गोरी है या प्रसाधन की वजह से गोरी दिख रही है। उस समय वरपात्र भी ऐसे मौकों पर कन्या देखने खुद नहीं आया करते। यानी कन्यापक्ष वालों का वरपात्र को देखना संभव नहीं था। दूल्हे को, पिता या भैया कोई एक देख आया है तो काफी है। कभी-कभी वरपात्र का एकाध 'ब्लैक एण्ड व्हाइट' फोटो मिल जाए, तो उसे देखने जाने की जरूरत भी नहीं महसूस की जाती। लड़के की योग्यता और उसके घर-कुटुम्ब की हैसियत देखकर ही शादी कर दी जाती थी। किन्तु श्रीलता की शर्त थी कि वह वरपक्ष के सामने माडल बनकर खुद का प्रदर्शन नहीं करेगी। वरपक्ष परोक्ष रूप से कन्या को उसकी जानकारी के बिना जहाँ चाहें देखें। ठीक उसी तरह वर को भी देखना जरूरी है। उस दौर में लोग कहा करते, वर को देखना क्यों? मर्द लड़का है, पीछे की तरफ चेहरा- आँखें हो तो भी मर्द तो मर्द है। पर विप्रबाबू का फैसला था कि - 'लड़की लड़के को देखे या न देखे लेकिन मैं लड़का देखे बिना कन्यादान नहीं करूँगा।' वरपात्र की तस्वीर देख वे संतुष्ट नहीं थे। इस मामले में श्रीलता का अपने पिता पर भरोसा था। श्रीलता जब बी.ए. का इम्तहान दे रही थी उस



दौरान विप्रबाबू लड़केवालों के घर जाकर लड़का देख हर दृष्टि से संतुष्ट और प्रसन्न होकर लौट आए थे। क्योंकि लड़का बहुत अच्छा और मेधावी था। विश्वविद्यालय की हर परीक्षा में प्रथम-स्थान तथा रिसर्च और उच्च-अध्ययन की डिग्री विदेश जाकर हासिल किए हुए था। प्राध्यापक के रूप में भी उसकी ख्याति थी। यानी आदर्श शिक्षार्थी और आदर्शगुरु। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू से दूर। देखने में भी सुदर्शन और क्या चाहिए। अच्छा अध्ययनशील पात्र यानी विप्रबाबू की इस कमजोरी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी इस शादी प्रस्ताव में। हाँ, सच है लड़का चश्मा पहनता है। श्रीलता की माँ इस बात से थोड़ी मायूस थी। विप्रबाबू ने तब जोर देकर कहा था कि खासा पढ़ा लिखा, रिसर्च – स्कॉलर, अध्यापक, उसे तो पढ़ना ही पढ़ना है और चश्मा इसका प्रमाण है कि लड़का अध्ययनशील रहा है। जिन्दगी में वह उन्नति करेगा और खूब नाम कमाएगा। हमारी बेटी को ऐसा ही लड़का पसंद आयेगा यह तो तुम्हें मालूम है। इसलिए इस एक बात के लिए जी हल्का क्यों करती हो? तुम्हें क्या मालूम कि लगातार पढ़ाई-लिखाई के दौरान आँखों को कितनी तकलीफ होती है। और मैं भी तो तुमसे शादी के समय चश्मे का उपयोग करता था, याद नहीं है तुम्हें?’ श्रीलता की माँ वरपात्र के गुणों से मुग्ध तब मुस्कराते हुए प्यार से बोली थी- ‘लेकिन दूल्हे के वेश में जब आप आए थे उस वक्त तो आपकी आँखों में चश्मा नहीं था। चश्मा देखती तो मैं मंडप से ही उठ जाती। मेरे पिता जब आपको देखने गये थे तब आपकी आँखों में चश्मा था या नहीं यह तो मुझे मालूम नहीं। पिताजी जीवित होते तो पूछती। अब जाने दीजिए मैं जहाँ तक समझ पायी हूँ, हर तरह से यह लड़का हमारी बेटी के लायक और उपयुक्त है।’

लड़के वालों की ओर से श्रीलता को देखने-परखने की जरूरत नहीं थी। लड़के की बहन ने कॉलेज में कहीं श्रीलता को देखा हुआ था। उसी ने खुद घर में अपने भाई के लिए प्रस्ताव दिया था। वह श्रीलता से एक वर्ष सीनियर थी। श्रीलता की फोटो भी, जाने उसकी किसी सहेली की मदद से वह प्राप्त कर चुकी थी। श्रीलता इम्तहान देने के बाद जब घर पहुँची तो शादी पक्की हो चुकी थी। लड़की देखने-दिखाने का झमेला उसके साथ

नहीं हुआ। यानी वह भी इस प्रस्ताव से खुश थी। पिता की आँखों में उम्र का चश्मा तो था मगर उनकी सोच और लड़के को परखने की दृष्टि-शक्ति पर श्रीलता को अपनी बड़ी बहन की शादी के बाद से, पूरा भरोसा था। हर दृष्टि से यह प्रस्ताव मुआफिक था, पर ... वो महिला ... अगर शादी-शुदा नहीं होती तो दिल में दूसरी भावना भी आ सकती थी। मसलन...निराश प्रेमिका...ईर्ष्यालू कोई युवती...श्रीलता की अज्ञात दुश्मन इत्यादि। लेकिन सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि लड़के यानी होने वाले दामाद के बारे में उसने कुछ भी बुरा नहीं लिखा था। शादी टूट जाए यह भावना भी नहीं थी लेकिन महिला के हिम्मत की दाद देनी होगी। उस दौर में ऐसी हिम्मत, शायद कोई साधारण महिला कर नहीं सकती थी। इस कारण श्रीलता ने उन्हें ‘असाधारण नारी’ की सूची में रख चुकी है और सारा जीवन उनके सद्-व्यवहार के लिए उन्हें नमन करती रही है। कभी-कभी उसका मन होता उस ‘महीयसी नारी’ से मिले और जाने कि वह कौन से सांचे में ढली है। उनकी पावों की धूल माथे से लगाती। समय, हालात को देख, उनके साहस की भला कौन तारीफ नहीं करेगा। पत्र की बात अगर औरों को मालूम हो जाती तो उनकी दशा क्या होती, ये वे सब महसूस कर पा रहे थे। उस वक्त श्रीलता भी यही सोच रही थी। लेकिन माँ के पढ़ लेने के बाद जब चिट्ठी पिता की ओर बढ़ा दी थी और पिता के पढ़ने के बाद बड़े भाई की ओर। तब चिट्ठी पढ़कर बड़े भैया ने श्रीलता के सामने ही दृढ़ता से घोषणा की थी – ‘नहीं, अब उस घर में हमारी बेटी की शादी संभव नहीं है। मेरी बहन सब्जी-भाजी नहीं है कि कुछ दिन और घर में रही तो खराब हो जाएगी।’ इसके बाद भैया ने उस पत्र के टुकड़े कर दिए। पिता ने भी कहा था- ‘हाँ, वहाँ अब शादी नहीं हो सकती। मेरी बेटी के लिए दूल्हे की चिन्ता नहीं। उसे अच्छा जीवनसाथी ही मिलेगा।’ बड़े भाई ने और कहा था- ‘बिलकुल, अब बिना दहेज कोई प्रस्ताव आया भी तो हम उसके लिए राजी नहीं होंगे।’ किन्तु उस दिन यदि चिट्ठी पढ़ने के बाद, अगर पिता ने श्रीलता से इस पर अपना निर्णय लेने की बात कही होती तो...वह क्या निर्णय लेती? हाँ, नहीं ... नहीं...। उस दिन की बात आज सोचने

पर श्रीलता को लगता है कि वह कोई निर्णय नहीं ले पाती। लेकिन... उसी चिट्ठी के फटे कागज जैसे श्रीलता के आधे-अधूरे सपने तब साथ उड़ गये थे।

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। उस 'महान नारी' को श्रीलता आज भी मन ही मन तलाश कर रही है। जानते हुए कि समय क्या हाथ बांधे ठहरा रह सकता है?

सचमुच एक दूसरे अच्छे लड़के की तलाश के लिए पिता को दो वर्ष से ज्यादा समय लग गया। इस बीच श्रीलता ने एम.ए. की पढ़ाई भी पूरी कर ली। ऊपर वाले की मर्जी जो थी। श्रीलता को उस दिन की बस से की गई यात्रा का स्मरण है। कटक से सम्बलपुर जाने वाली रात की बस से वह हॉस्टल जा रही- सम्बलपुर विश्वविद्यालय। उन दिनों एम.ए. के बाद श्रीलता पीएच.डी. (रिसर्च) कर रही थी। उसके गाईड सम्बलपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर होने की वजह से, उसे बीच-बीच में बस से यात्रा करनी पड़ती थी। उन दिनों सीधे ट्रेन की सुविधा न होने के कारण गाँव की लड़कियाँ, कटक से सम्बलपुर के लिए रात अथवा दिन की बस से अकेले भी सफर कर सकती थीं। हालांकि उन दिनों आजकल की तरह लड़कियों-महिलाओं के साथ दुष्कर्म की घटनाएँ जहाँ चाहे वहाँ नहीं होती थी। फिर भी अभिभावकगण चाल-चलन देख अपनी बच्चियों को पगहे में बंधे गाय की तरह एक सीमा तक ही छूट देते थे। इस कारण उन दिनों की लड़कियाँ माँ-बाप के अंकुश से प्रभावित, सामाजिक रूप से भयालू भी थी। श्रीलता भूत प्रेत, कीड़े मकोड़ों से डरने के बावजूद, स्वच्छन्द रूप से अपना काम और काम के संदर्भ से अकेली सफर करने में कभी डरती नहीं थी। इस मामले में वह साहसिनी थी। अपने काम के लिए किसी को साथ ले जाना भी उसे अपने स्वाभिमान के खिलाफ आचरण जैसा महसूस होता।

बस में वह खिड़की के पास बैठी। उसे अच्छा लगा जब उसके बगल की सीट पर एक महिला बैठी। ठीक पीछे की खिड़की के पास की सीट पर बैठा एक युवक। बस चली तो श्रीलता सीट पर इत्मीनान से बैठ आँखें बंद किए सोने का उपक्रम करने लगी। अगला पूरा दिन उसे गाइड सर के साथ बिताना था। फिर रात की बस

से उसे लौटना भी था। इसी समय पीछे की सीट पर बैठे युवक के सामने की ओर पैर फैलाने से श्रीलता के पैरों से उसके पैर टकरा गए। फौरन उसने पैर हटा लिए और उसी समय श्रीलता ने पलटकर युवक की ओर देखा था। युवक विनम्र होकर कहने लगा- 'सारी...एक्स्ट्रीमली सारी...'।' वैसे लौकिक दृष्टि से इसकी जरूरत नहीं थी। पर श्रीलता को महसूस हुआ कि युवक वाकई दुखी है। श्रीलता ने मुस्कुरा कर कहा- 'नहीं, कोई बात नहीं...'। इसके बाद युवक संयत होकर बैठ गया और श्रीलता ने भी निशंक सोने के लिए आँखें बंद कर ली। युवक शांत सौम्य और सज्जन लगा था। लम्बे सफर में यदि भले सहयात्री मिल जाए तो इसे किस्मत ही कहेंगे। बगल में बैठी महिला, युवक की माँ होगी शायद...क्योंकि दोनों के चेहरे में साम्य जैसा श्रीलता को महसूस हो रहा था। इसी बीच दोनों में बातें होने लगीं। महिला कह रही थी- 'मेरा बेटा आजकल के लड़कों जैसा नहीं है बेटी। उसने जानबूझ कर पांव नहीं फैलाए होंगे। बुरा मत मानना बेटी।' श्रीलता ने भी कोमल स्वर में कहा- 'मैं समझ पा रही हूँ माँजी, आप बिल्कुल परेशान न हों।'

'तुम क्या कॉलेज में पढ़ती हो बेटी। बड़ी कक्षा में पढ़ रही हो न! आजकल तो अच्छी पढ़ी-लिखी लड़की मिलना बड़ा कठिन है। लेकिन...कॉलेज तक की पढ़ाई भी अधिकांश कहाँ कर पाती हैं।' महिला कह रही थी।

सुनकर श्रीलता ने संक्षिप्त में उत्तर दिया- 'एम.ए. के बाद रिसर्च कर रही हूँ।' और फिर से आँखें बंद कर ली। भद्र-महिला बहुत बातें करती है- गपोड़ी है शायद। श्रीलता के आँखें बंद थी पर कान तो खुले थे। महिला कह रही थी- 'एम.ए. की पढ़ाई के बाद तो सब खतम, फिर ये रिसर्च क्यों? मेरा बेटा तो दुनिया भर की पढ़ाई करने के बाद भी रिसर्च और रिसर्च में लगा हुआ है। नौकरी कर रहा है फिर भी उसका रिसर्च खत्म नहीं हो रहा। मेरा बेटा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़ाता है। आधा समय तो विदेश में। अभी फिर जा रहा है अमेरिका...'। श्रीलता आँखें बंद किए मुस्कुराई, बोली- 'आप बहुत किस्मतवाली हैं।'

'अरे कहाँ बेटी...किस्मतवाले भी क्या हर वक्त उजाले में ही रहते हैं। अंधेरा भी रहता है साथ उनके।

अगर ऐसा नहीं तो तय शादी अचानक कैसे टूट जाती? बिना किसी कारण के...अयं...?’ कहते महिला ने गहरी सांस ली थी। श्रीलता की आँखें एकबारगी खुल गयीं। सीने में भी धड़का-सा लगा। ठीक इसी समय पीछे बैठे युवक ने माँ को चेताते हुए कहा- ‘अरे माँ...सोने दो उनको। क्यों डिस्टर्ब कर रही हैं?’ इस पर महिला बोली- ‘ये कोई सोने का समय है। रास्ते में कहीं न कहीं बस रुकेगी। वहाँ लोग खाना-वाना खाएंगे, उसके बाद ही सब अपनी-अपनी सीट पर सोएंगे। कहीं तुझे नींद तो नहीं आ रही है? रात-रात भर तो किताब धरे पढ़ता रहता है। भले घर की लड़की है देख बातें करने का मन हुआ। इससे तुझे क्या?’ युवक ने कहा- ‘उनसे पूछा...उन्हें तकलीफ होती है कि नहीं, रिसर्च कर रही हैं... दिमाग में वही सब चल रहा होगा।’ युवक की सौजन्यता से प्रभावित पीछे चेहरा घुमा श्रीलता बोली- ‘आप परेशान न हों ‘मैं ठीक हूँ, सोई नहीं हूँ आँखें बंद किए सुन रही हूँ।’ युवक ने तब मुस्कुराते हुए कहा- ‘अच्छी बात है, मेरी माँ की बातें तो खत्म होने से रहीं, कुछ समय बाद आप भी जान जाएंगी।’ कुछ और बोले बिना श्रीलता ने आँखें बंद कर ली। महिला ने फिर सवाल किया- ‘तुम...शादी कर चुकी हो बेटी! कौन से कास्ट की हो? तुम्हारे पिता जी क्या करते हैं। कहाँ रहती हो? मतलब... मेरे बेटे की शादी बन्धमुण्डा के विप्रचरण सामंतरायजी के यहाँ होनी थी...लेकिन बिना कारण वह तय रिश्ता टूट गया। इसलिए मन में विचार आया...शायद तुम हमारी जाति-कुल की हो...!!’ तभी पीछे से युवक ने भारी आवाज में कहा- ‘माँ क्या तुम चुप नहीं रह सकती? हमारे घर की समस्याएँ बता हरेक को परेशान करना ठीक नहीं है।’ शायद युवक शादी का तय रिश्ता टूट जाने की बात को लेकर अपमानित-सा महसूस कर रहा हो! श्रीलता की धुकधुकी तेज होने लगी। माथे पर, गर्दन में पसीना आए जैसा महसूस हुआ। क्या इसी... इसी शालीन- सुशील - सौम्य युवक के साथ...उसका रिश्ता होता...टूट गया...और दो साल बीत गए।...इसकी शादी भी अब तक नहीं हुई। कहीं उस भद्र महिला ने खुद अपनी शादी भी अनजाने में इससे तोड़ी तो नहीं है?...लेकिन ...इनके सवालों का क्या

उत्तर दे श्रीलता। कैसे वह अपना नाम, गाँव और पिता का परिचय देगी? थोड़े में उसने कहा- ‘मेरी शादी तय हो चुकी है। आने वाली तारीख में होनी है। हमारा घर कटक में ही है।’ इतने से ही महिला का चेहरा, आग में पानी पड़ने जैसा बुझ गया। सारा उत्साह टंडा पड़ गया। वे भी आँख बंद किए सीट से चिपक गईं। अपनी कल्पना के देश में बेटे के लिए शायद एक अच्छी लड़की की तलाश में जुट गयी। श्रीलता ने अपनी शादी तय होने का जो झूठ बोला था उसे यह महिला समझ नहीं पायी।

श्रीलता इसके बाद पीछे मुड़कर देखने का साहस नहीं कर पायी। बस के भीतर चुपपी पसर गयी थी। लेकिन हृदय में...क्यों नहीं? एक ढाबे के पास बस रुकी। युवक उठा और बोला- ‘माँ, तुझे नीचे उतरने की जरूरत नहीं... तेरे लिए मैं बिस्कुट या केले ले आता हूँ। तू तो ढाबे में खाएगी नहीं।’ श्रीलता की ओर देखकर पूछा- ‘आप चलेंगी? या आपके लिए कुछ ले आऊँ।’ श्रीलता ने तुरंत कहा- ‘मेरे पास है, खाना लेकर आई हूँ। वही खा लूँगी। धन्यवाद।’ युवक बस से उतर गया।

सुबह-सुबह बस सम्बलपुर पहुँची। सफर खत्म हुआ। सभी उतरे। श्रीलता भी। युवक पूछने लगा- ‘आप शायद यूनिवर्सिटी जाएंगी। मेरे लिए वहाँ से गाड़ी आई होगी। एक सेमिनार है, वहाँ मुझे वक्तव्य देना है। अगर आपको आपत्ति न हो, हम गाड़ी से चल सकते हैं। सचमुच उस युवक के लिए गाड़ी आई हुई थी। श्रीलता ने कहा- ‘प्लीज, आप निकलिए...मेरे कजिन यहीं रहते हैं, वे गाड़ी लेकर आते ही होंगे।’

‘तो उनके आने तक...इंतजार कर लेते हैं। सुबह का वक्त है, बस-स्टैंड में अधिक लोग भी नहीं है। आप अकेली...’ युवक ने कहा था। जबकि उसकी माँ की रुचि अब श्रीलता में नहीं थी। इस स्थिति को टालने की गरज से श्रीलता ने कहा- ‘नहीं...नहीं...कोई बात नहीं...सम्बलपुर आना...पहली बार नहीं है मेरे लिए। तो आप अपना समय काहे जाया करेंगे। और लड़कियों को थोड़ा आत्मनिर्भर भी तो होने दें...?’

‘श्योर...श्योर। तो... हम निकलते हैं। आप जैसी पढ़ी-लिखी, युवती से मिलकर बहुत खुशी हुई। वैसे ये

दुनिया छोटी है, हम कहीं न कहीं दुबारा अवश्य मिलेंगे...ऐसी उम्मीद है।'।

सुबह की धुंधली रोशनी में श्रीलता ने आखिरी बार, युवक के चेहरे की ओर सीधी नजरों से देखा था। इस तरह से कि उसकी नजरें चश्मे को भेदकर युवक की आँखों की पुतलियों से सीधे जुड़ गई और मन ही मन कहने लगी—मुझे क्षमा करेंगे। श्रीलता ने माँ-बेटे दोनों का अभिवादन किया। उनकी गाड़ी चली गई। फिर रिक्शे में बैठ श्रीलता भी युनिवर्सिटी के महिला-छात्रावास की ओर निकली। कहीं उस युवक के साथ युनिवर्सिटी में फिर से मुलाकात न हो जाए— इस डर से उसने अपने गार्ड को डिपार्टमेंट में मिलने की बजाय, शाम को उनसे, उनके क्वार्टर पर मिलने का निवेदन किया। इस बहाने के साथ, कि दिन में उसे दूसरे काम हैं।

इसके बाद फिर श्रीलता पीछे मुड़कर देखी नहीं समय मुताबिक ताल मिलाते वह जीवन धारा में तैरते अपने चौंतीस वर्ष बिता आयी है। अब प्रौढ़ा है श्रीलता। नाती नातिन हो चुके। जीवन के अनेक रूप वह देख चुकी है। समय की जाने कितनी यादें अपने साथ समेट लाई है वह अब तक। उसकी शादी के प्रस्ताव किन किनके यहाँ से आए, उसे याद नहीं। लेकिन इस रिश्ते की तथा-कथा वह भुला नहीं पायी है, जबकि उस युवक का नाम भी उसे याद नहीं। आज अगर कहीं उससे मुलाकात

हो जाए तो वह उसे पहचान भी नहीं पाएगी। उसके चेहरे की छवि भी उसे याद नहीं। वह उस 'अज्ञात भद्र-महिला' का नाम भी भूल गई, जो उस युवक की 'शुभाकांक्षिणी' थी, जिसने युवक की बहन के माध्यम से श्रीलता के 'गुणों का बखान सुन, श्रीलता के परिवार को अस्तव्यस्त कर देने की ईश्वर से तब प्रार्थना की होगी। रिश्ता टूट जाने पर उसे भी अवश्य दुख हुआ होगा। लेकिन इसके लिए वह खुद को जिम्मेदार नहीं मानती होगी। उसी 'भद्र-दयालु महिला' से श्रीलता आज भी एक दफा मिलने की चाह संजोए हुए है।

लेकिन उनसे वह कहाँ मिल पाएगी? हाट बाजार में, रास्ते घाट में, बस या ट्रेन में, मेले-त्योहारों में शायद मिली हो!! कैसे जाने, किससे पूछेगी? अरसा हो गया उस रिश्ते का पता ठिकाना भी वह गंवा चुकी है। कभी कभी श्रीलता सोचती, उक्त प्रस्ताव से सहमत, अगर उसकी शादी हुई होती, तो क्या वह सुखी नहीं रह पाती? कम से कम उस 'असाधारण नारी' के सान्निध्य और स्नेह का लाभ तो उठा पाती। उनसे कई बातें वह सीख पाती, जिससे उसका व्यक्तित्व और भी निखरता और उसमें और भी दृढ़ता आती!! किसी का रिश्ता किसी के साथ बंध जाए तो उस रिश्ते की अनुभूति चाहे जैसी हो, जिन्दगी का मोड़ बदल जाता है। उसकी जिन्दगी का मोड़ थी वह चिट्ठी...!!

### संपर्क :

श्रीमती प्रतिभा राय  
आख्यायिका  
27- गजपति नगर  
भुवनेश्वर-751005 (ओड़िशा)

पूर्णचन्द्र रथ  
ए-८, लेकपल, रेसीडेंसी, बावड़िया कल  
भोपाल (म.प्र.)- 462039  
मो. 08821806990

## गुजराती कविता

मूल : सुंदरम्

अनुवादक: डॉ. नयना डेलीवाला

त्रिभुवनदास पुरुषोत्तमदास लुहार 'सुंदरम्' का जन्म 1908 में गुजरात के भरूच जिला, आमोद तहसील मियांमातर गाँव में हुआ। तथा मृत्यु 1991 में हुई। गाँधीवादी चिंतन एवं अरविंद दर्शन से प्रभावित सुंदरम् कवि, कहानीकार, एकांकीकार, अनुवादकार तथा संपादन करते रहे हैं। 'साबरमती' के संपादक एवं उसमें प्रकाशित आलेखों के लिए गाँधी जी ने उन्हें 'तारा गौरी रौप्य चंद्रक' दिया था।

## घन उठाओ

घन ऊठाओ, ओ मेरी भुजा,  
बहुत कुछ तोड़ने को,  
बहुत कुछ फोड़ने को,  
तू कर करारा, प्रहार, ओ मेरी भुजा।  
पुराने युगों की जड़ता के अनंत स्तर चढ़ गये हैं—  
मनुष्य के मन-मस्तिष्क और कार्य पर,  
तू कर प्रहार, उसे कर चूर-चूर।  
चाहे धरती काँपे, दिशाएँ थर-थरायें  
व्योम में फैल जाए प्रकंप,  
उठे भय का भयावह ऊछाल हर हृदय में,

भले ही पूरा जग डोल जाए,  
कर घन का प्रहार, ओ भुजा, सारी सृष्टि धमधमा दे।  
अहो युग-युगों की परतों पर परतें जो चढ़ी हैं,  
लगा घन! कर प्रहार, टूटे तड़िततड़ पाताल सारे,  
धरा गर्भ में गड़ी मूर्छित प्रचंड ज्वालावली,  
बहिर्गत होकर रौद्र फूत्कार सी विलसित।  
पुराना सब तोड़फोड़कर,  
टूटे को गला गलाकर,  
सबको ठोंक पीटकर नये-नये देने आकार, कर करारा प्रहार,  
ओ भुजा, लेकर घन, प्रहार से दे नया आकार जग को।

संपर्क:

एफ.डी.आर्ट्स कॉलेज, जमालपुर दरवाजा,  
अहमदाबाद- 380001  
मो. 09327064948

## हिन्दी भाषा शिक्षण में बहु-माध्यमों का प्रयोग: स्वप्न और संकट

डॉ. रंजना अरगड़े

अध्यक्ष हिंदी विभाग,

गुजरात युनिवर्सिटी

‘हिन्दी भाषा शिक्षण में बहु-माध्यमों का प्रयोग : स्वप्न और संकट’ विषय अपने शीर्षक के कारण जितना आकर्षक अथवा तकनीकी लगता है, वास्तव में मेरी दृष्टि से वह एक गंभीर दार्शनिक प्रश्न है। बहुमाध्यमों- अर्थात् मल्टी मीडिया का प्रयोग कहते ही इस समय जो 45 वर्ष की आयु को पार कर चुके हैं, ऐसे हिन्दी (अथवा भाषा) के अध्यापकों के लिए यह अगले जन्म में कर सकने वाली बात हो जाती है। नए सिरे से बहु-माध्यमों को सीखने के प्रति एक अजब रुकावट भीतर से घेर लेती है।

एक प्रश्न यह भी है कि भाषा-शिक्षण को लेकर क्या हम नए सिरे से सोचना, समझना चाहते हैं? क्या हमें लगता है कि भाषा प्रशिक्षण अथवा भाषा अध्यापन की नई पद्धतियाँ आवश्यक हैं? यह प्रश्न इसलिए हमारे मन में उठते हैं कि एक तरफ जहाँ ‘माध्यमों’ और ‘बहु-माध्यमों’ की भरमार है, वहीं ‘भाषा’ हमसे छूटती जा रही है; भाषा शिक्षण जैसे अपना महत्त्व खोता चला जा रहा है। एक समय था जब किसी भी भारतीय के लिए बहु-भाषी होना एक सामान्य बात थी। शायद ही कोई कवि ऐसा था जो एक से अधिक भाषा न जानता हो। तब भाषा प्रशिक्षण के क्या माध्यम थे, यह जानना रोचक हो सकता है।

वेदकालीन शिक्षा व्यवस्था में व्याकरण का महत्त्व था, छन्द, ज्योतिष आदि विषयों को उपनिषद् आदि के साथ पढ़ाया जाता था। अध्ययन-अध्यापन की भाषा संस्कृत थी, मध्यकाल में फ़ारसी का महत्त्व था और स्वतंत्रता पूर्व, अंग्रेजों के समय में अंग्रेजी का वर्चस्व रहा। अतः हिन्दी अथवा भारतीय भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन एवं भारतीय भाषाओं में माध्यम के रूप में शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था होना तो स्वतंत्रता के बाद की ही घटना है। एक बात और गौर करने जैसी है, प्राचीन काल से लेकर अंग्रेजों के समय तक ज्ञान के विभिन्न मार्गों एवं प्रयोजनमूलक पाठ्य अंश अंग्रेजी, संस्कृत अथवा फ़ारसी के माध्यम से पढ़ाए जाते थे। जैसे ही भारतीय भाषाएं पाठ्यक्रम का हिस्सा बनीं वे मात्र साहित्य-अध्ययन तक महदांश में सीमित रह गयीं। भारतीय भाषाओं को माध्यम बना कर ज्ञान प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ने का काम हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति में शत-प्रतिशत सफल नहीं हो सका है। ज़ाहिर है अंग्रेजी का वैश्विक महत्त्व इसके लिए ज़िम्मेदार तो माना ही जा सकता है, दूसरे, अंग्रेजी शिक्षा पद्धति ने उस समय तक प्रचलित अन्य माध्यम भाषाओं को आयोजनपूर्वक प्रजा की स्मृति से मिटाने का उपक्रम किया, अगर ऐसा कहें तो गलत नहीं होगा। इसके फलस्वरूप प्रजा की स्मृति में संस्कृत तथा फ़ारसी भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान समाज से दूर रहा, भारतीय भाषाएं अगर प्रांतीय स्तर पर देखें तो एक हद तक



सफल रहीं और बँगला तथा कन्नड़ जैसी भाषाएं अधिक सफल रहीं; परन्तु पहले राजकीय और फिर राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के विवाद ने उसकी स्थिति कमज़ोर कर दी। ज्ञान की भाषा अंग्रेज़ी मानी जाने लगी, जापान, चीन और रूस के तथा फ्रांस के आँख खोल देने वाले उदाहरणों के बावजूद...। अब ज्ञान की भाषा अनुवाद हो गयी है। यानी हिन्दी वह स्थान नहीं पा सकी जो उसके पूर्व संस्कृत, फ़ारसी अथवा अंग्रेज़ी ने प्राप्त किया था।

फिर भारत में अंग्रेज़ी में प्राप्त ज्ञान इसलिए लोगों तक नहीं पहुँच सका क्योंकि उस माध्यम में पढ़ने वालों की संख्या सीमित थी और अन्य भाषाओं को इस तरह हीन, पिछड़ा तथा मृत अतः व्यर्थ बता कर वास्तव में भारतीय लोगों को उस परंपरा से वंचित रखा जो शताब्दियों तक ज्ञान प्रसार का माध्यम रही। ऐसे में बहु-माध्यम बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं, क्योंकि बहु-माध्यमों में पाठ, चित्र, संगीत, अभिनय- अर्थात् दृश्य-श्रव्य एवं एकाधिक हिस्सेदारी की गुंजाइश भी बनी हुई है। बहु-माध्यमों को लोकप्रिय बनाने के लिए कितने सारे फॉर्मेट्स विकसित हो गए हैं। अब अपनी बात कहने के लिए या अपना प्रचार स्वयं करने के लिए आपको न किसी पत्रिका की आवश्यकता है और न ही किसी विज्ञापन कंपनी की....। फेसबुक, ट्वीटर इसके उत्तम उदाहरण हैं। कितने सारे लोग आपको पढ़ते हैं और एक दूसरे के लिंक के कारण और कितने लोग आपको जानने लगते हैं। लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि हम खुद एक उत्पाद बन जाते हैं। जब

तक लोग लाईक करेंगे तब तक चलेंगे, वरना ...। लेकिन इसके बावजूद अपनी सीमाओं में यह वैचारिक स्वतंत्रता देने वाले माध्यम हैं। और इसीलिए बहु-माध्यम अपने आप में केवल और केवल एक लोकतांत्रिक व्यवस्था है और लोकतांत्रिक शासकीय पद्धति में ही संभव है।

भारतीय शिक्षा पद्धति के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर कई रोचक तथ्य सामने आते हैं। प्राचीन भारतीय पद्धति में कहीं भी धर्म शिक्षा का उल्लेख नहीं है। अध्ययन के विषय तो वेद, वेदांग, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष आदि थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह सब ज्ञान के क्षेत्र थे। इनका संबंध धर्म से नहीं था। हाँ, आचरण से अवश्य था। मध्यकाल में मुसलमानों और आधुनिक काल में अंग्रेज़ों के आगमन के साथ ही शिक्षा का संबंध धर्म प्रचार एवं व्यापार के साथ जुड़ गया।

प्राचीन पद्धति में सौ प्रतिशत से कम को कोई स्थान नहीं था, कोई स्तरीकरण नहीं था, आप पढ़ना आरंभ करते हैं तो समग्र पढ़ कर ही, बिना भूल गलती के, बाहर निकलते हैं। 35 या 50 या 60 प्रतिशत की कोई गुंजाइश नहीं थी। आप को शिक्षा प्राप्त कर के संपूर्णता की दिशा में ही जाना है। यह दो या दो से अधिक स्तर की बात मध्यकाल में और उसके बाद आती है और अब तो बहु-स्तरीय शिक्षा व्यवस्था में हम लोग जी रहे हैं। 2 महीने का 4 महीने का 6 महीने का पाठ्यक्रम पढ़ा कर धन उपार्जन कर रहे हैं और कमतर स्तर के विशेषज्ञों का निर्माण कर रहे हैं।

समय (Period)	प्रविधि (Methodology)	माध्यम (Media)	उपकरण (Tools)	विषय (Subjects)	स्तर (Layers)	उद्देश्य
प्राचीन (वेद- कालीन)	समकेंद्रीय अनुवाद (अनुवचन कंठस्थ)	सूत्र वृत्ति भाष्य वर्तिका, ग्रंथ के लघु और बृहद् संस्करण  संस्कृत भाषा में	कथा अभिनय	वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, ज्योतिष और निरुक्त उनके विषय होते थे पाठ्यक्रम के विस्तार के साथ वेदों और वेदांगों के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण और चिकित्साशास्त्र का अध्यापन कराया था जाता।	एक स्तरीय	ज्ञान प्राप्ति

बौद्ध+जैन	वही	वही	वही	वही	वही	वही
मध्य काल	धार्मिक कंठस्थ	फ़ारसी	प्रश्नोत्तर, व्याख्या और उदाहरणों द्वारा पाठ पढ़ाए जाते थे।	धर्म (मुख्य)+, पढ़ना, लिखना, गणित, अर्जीनवीसी और चिट्ठीपत्री	द्विस्तरीय (1-मकतब+,	रोजगार एवं ज्ञान प्राप्ति
	कंठस्थ धार्मिक	फ़ारसी	प्रश्नोत्तर, व्याख्या और उदाहरणों द्वारा पाठ पढ़ाए जाते थे।	धर्म (मुख्य)+, इतिहास, साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित, कानून इत्यादि की पढ़ाई होती थी।	2-मदरसा)	रोजगार एवं ज्ञान प्राप्ति
स्वतंत्रता पूर्व काल	पाठ्य-पुस्तकें, वर्ग खंड	अंग्रेजी, हिन्दी		ईसाई धर्म की शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और साहित्य और यूरोपीय इतिहास, विज्ञान, प्राच्य शिक्षा चलती चले, परंतु अंग्रेजी और पश्चिमी विषयों के अध्ययन और अध्यापन पर जोर दिया जाए।	चार स्तरीय-प्राइमरी, सेकेंडरी, कॉलेज, युनिवर्सिटी	बाबू बनाना और अंग्रेजों के उद्देश्य को सफल बनाना
स्वातंत्र्योत्तर काल	पाठ्य पुस्तकें, वर्ग खंड, सेमिनार, समूह-चर्चा, बहुमाध्यम, अनुवाद	अंग्रेजी, हिन्दी, भारतीय भाषाएँ	मुख्य रूप से व्याख्यान, वाद-विवाद, विशेष व्याख्यान, चार्ट पेपर, व्यावहारिक ज्ञान, ट्रेनिंग	भाषाएँ, साहित्य, मानवशास्त्र, समाज विज्ञान के विभिन्न क्षेत्र, टेक्नोलॉजी, प्रबंधन, अनुवाद इत्यादि	बहुस्तरीय प्रि-प्राइमरी, प्राइमरी, सेकेंडरी, हायर सेकेंडरी, कॉलेज, युनिवर्सिटी, सर्टीफिकेट से लेकर डॉक्टरेट तक के पाठ्यक्रम	रोजगार, अच्छा नागरिक बनाना, संस्कृति का संरक्षण, मानवीय भावों का विकास, जीवन रक्षा, वसुधैव कुटुंबकम् की भावना का विकास

स्वतंत्रता के बाद का चित्र हमारे सामने स्पष्ट है। समय-समय पर विभिन्न आयोग बने और स्वतंत्रता के बाद की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए कई नीतियाँ बनीं। कारण जो भी रहे हों, भारतीय प्राचीन पद्धति को सर्वथा भुला दिया गया ; हम एक तरह से शिक्षा में सम्पूर्णता एवं समग्रता को नज़र अंदाज़ कर गये। आजकल जिस “होलिस्टिक एज्युकेशन” की बात हो रही है , वह उस तरह का समग्र शिक्षण नहीं है जैसा प्राचीन काल में था। भारतीय शिक्षा के इतिहास को देखते हुए एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल में कई सहस्राब्दियों तक संस्कृत माध्यम भाषा रही, मध्यकाल में कई शताब्दियों तक फ़ारसी को यह अवसर प्राप्त हुआ और फिर अंग्रेज़ी को एकाध शताब्दी तक यह अवसर मिला। भारतीय भाषाएं तो स्वतंत्रता के बाद माध्यम भाषा बनने का अवसर प्राप्त कर सकी हैं, अतः अभी उसे पूरे 75 वर्ष भी नहीं हुए हैं। अगर उपरोक्त तालिका को देखा जाए तो मालूम होगा कि पिछले सभी दौर में माध्यम भाषा में पुस्तकें थीं। आज सबसे बड़ी समस्या हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सामग्री का निर्माण करना है। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने इस दिशा में प्रयत्न किए जिसके फलस्वरूप वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली आयोग जैसी संस्थाएं बनीं और उसके अन्तर्गत शब्दावली निर्माण का काम व्यापक पैमाने पर हुआ है। किन्तु, प्रश्न यह है कि इसके लाभार्थी क्या इन प्रयत्नों के प्रति गंभीर हैं?

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा जगत हर तरह के प्रयोगों की निर्बाध भूमि बन गया है। जिस समग्रता का आग्रह ऊपर किया गया है, वह तिरोहित हो गया। आश्चर्य जनक रूप से मध्यकाल में शिक्षकों की नियुक्ति के संदर्भ में जो कहा है—सरकार शिक्षकों को नियुक्त करती थी। कहीं कहीं प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा भी उनकी नियुक्ति होती थी— यह बात आज एक रोग का रूप धारण कर चुका है। सरकारी नियुक्तियों पर कोई टिप्पणी नहीं है, पर प्रभावशाली लोगों की दखलंदाज़ी ने शिक्षा को पनपने से पूर्व ही नष्ट कर दिया है। जिन अध्यापकों की नियुक्ति होती है उनमें से वास्तव में कितने प्रतिशत अध्यापक अध्यापन के योग्य हैं, इस पर चर्चा करना यानी अपनी ही बिरादरी में दुश्मन पैदा

करना है। आरंभ में स्थिति ऐसी थी कि जो कहीं नौकरी नहीं पाता था वह शिक्षक/अध्यापक बनता था और अब ऐसी स्थिति है कि वेतन-आयोग के कारण अब अध्यापक बनना एक “इच्छित” (जिसे अंग्रेज़ी में कहा जाता है—मोस्ट सॉट आफ्टर प्रोफेशन) व्यवसाय बन गया है। किन्तु अध्यापक बनने और बन जाने के बाद सरकार अथवा आयोग कितने भी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम दाखिल करें लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि अध्यापक होने की गंभीरता अब अध्यापकों में नहीं रह गयी है।

भाषा-प्रशिक्षण के लिए क्या अध्यापक का विकल्प बहु-माध्यम बन सकते हैं? इस प्रश्न को कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। अध्यापकों का स्तर, हिन्दी-शिक्षण का व्यापक, दूर-दराज़ के क्षेत्रों में पहुँच प्राप्त करने का प्रश्न, वर्तमान समय में शिक्षा के लाभार्थियों के व्यवसाय एवं शिक्षा प्राप्ति के साधनों एवं संबंधों की जटिलता और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा को बोलने वाले के भाषा-संस्कार के प्रश्न। राजनैतिक वर्चस्व के कारण आज अंग्रेज़ी के कई रूप स्वीकृत हैं— लगभग 16। इसका अर्थ यह हुआ कि इन स्वरूपों में हुए भाषा गत परिवर्तनों को आधिकारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी के भारत में ही विभिन्न रूप हो गए हैं पर अभी भी हम अपने पाठ्यक्रमों में दिल खोल कर अन्य प्रांतों में लिखे जाने वाले हिन्दी साहित्य को पहचानते नहीं हैं। जहाँ कहीं यह प्रयास हुआ है वहाँ वह संदेह अथवा मज़ाक के स्तर पर ही हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रवासी हिन्दी साहित्य की स्वीकृति तो और अधिक दूर की बात है। लिखित भाषा की शुद्धता तो व्याकरण के द्वारा मानकीकृत हो सकती है पर विभिन्न प्रांतों में पनपने वाली हिन्दी पर उस प्रांत का जो प्रभाव पड़ता है उसके स्वीकार के विषय में अभी कुछ कहा नहीं गया है। इनमें नए शब्द तथा कहने की नई रीतियों को शामिल करने के विषय में क्या सोचा गया है, इस पर सोचना पड़ेगा। जितना अशुद्ध और अमानकीकृत हिन्दी प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों से आने वाले उसके प्रयोगकर्ता बोलते एवं लिखते हैं उसकी तुलना में कम भूलों के साथ हिन्दीतर प्रांतों के हिन्दी प्रयोक्ता हिन्दी का उपयोग करते हैं; इन दोनों ही स्थितियों से निपटने के लिए तो इसके मुख्य तीन कारण हैं—

ज्ञान के माध्यम के रूप में, नव सर्जन हेतु तथा प्रजाति रक्षण के लिए। इस भाषा-शिक्षण के माध्यम से कोई भी समाज तीन प्रकार के मूल्य प्राप्त करता है। पहला है दार्शनिक मूल्य, जिसके द्वारा हम संस्कृति और परंपरा के मूल्य को भी प्राप्त करते हैं; दूसरा है सर्जनात्मक मूल्य जो हमें साहित्य एवं कला से प्राप्त होता है और तीसरा है राजनैतिक मूल्य जिसके अन्तर्गत प्रजाति रक्षण होता है। आज का मूल मंत्र है-कम्यूनिकेशन। इसे हिन्दी में संचार भी कहते हैं और संप्रेषण भी। आज नैतिकता के मूल्य को संप्रेषण के मूल्य ने मानों स्थानापन्न कर दिया है। आज मूल्य का अर्थ है संप्रेषण, अर्थात् संप्रेषण एक मूल्य हो गया है। आज भाषा के द्वारा संदेश संप्रेषित होता है। सवाल यह है कि आपका संदेश क्या है- नैतिकता, सौन्दर्य या राजनीति (एथिक्स, एस्थेटिक्स अथवा पॉलिटिक्स) अब हमारा सारा कंटेंट एक संदेश में बदल गया है। संस्कृति, परंपरा, साहित्य, कला, राजनीति, विज्ञापन, अनुवाद- सभी कुछ। और यह सारा संदेश संचरित होता है भाषा के द्वारा जो विभिन्न माध्यमों के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचता है। आज दृश्य-श्रव्य, एनिमेशन, कंप्यूटर, नेट के द्वारा भाषा विचारों एवं भावों का संप्रेषण करती है जो पहले केवल नाटक, यात्रा, कथा, सभा आदि द्वारा हुआ करता था। लेकिन हमारी समस्या की जड़ यही है कि हमारा संदेश जटिल हो गया है। भावनात्मक संघर्ष बनाम अर्थगत जटिलता एवं अनिश्चितता के इस समय में राम-दशरथ संवाद या कैकेयी-दशरथ संवाद अथवा राम-शबरी संवाद इतने सरल नहीं रहे हैं। पिता की अन्याय पूर्ण माँग को अब पीढ़ीगत अंतराल के रूप में देखा और समझा जाएगा या कैकेयी-दशरथ संवाद नारीवाद के क्षेत्र में माना जाएगा अथवा शबरी-राम का संवाद दलित विमर्श का हिस्सा बन जाएगा। हमें इस बात से समझ लेना चाहिए कि हम एक लोकतांत्रिक राजकीय व्यवस्था में जी रहे हैं अतः दलित, स्त्री और स्पेशली एबलड या वनवासी की बात इसलिए करते हैं क्योंकि हम संवैधानिक रूप से सही रहना चाहते हैं। जरूरी नहीं है कि हम उनसे प्रेम करते हैं। यानी प्रेम के मूल्य के रोपण के संदेश की अपेक्षा Constitutionally Correct होने के हमारे संदेश को हम संप्रेषित करना

चाहते हैं। एकल माध्यम के द्वारा संभवतः हम अपने को संकट में डाल सकते हैं। पर बहु माध्यम के द्वारा हम उसे उतनी ही सफलता से प्रयुक्त कर सकते हैं जितना कि वह संदेश जटिल है।

बहुमाध्यम का प्रयोग एक संज्ञा के रूप में अथवा एक विशेषण के रूप में भी कर सकते हैं। जब उसे संज्ञा के रूप में प्रयुक्त करते हैं तब उसका कंटेंट केन्द्र में होता है। एक से अधिक कथ्य एवं स्वरूप को ध्यान में रखते हैं – जैसे फिल्म। (फीचर, डॉक्यूमेंटरी आदि)। या जैसे एनिमेशन अथवा जैसे विज्ञापन। लेकिन विशेषण के रूप में मल्टीमीडिया की बात करते हैं तो उसे एक माध्यम के रूप में देखते हैं। एक ऐसा माध्यम जो एक से अधिक कथ्य-रूप वाले हों (कंटेंट विथ डिफरेंट मीडिया? संज्ञा और मीडिया विथ मैनी कंटेंट्स? विशेषण)।

उदाहरण के लिए कोई कंपनी ने एक ऐसा विज्ञापन (संज्ञा) बनाया जो सीरीयल (विशेषण) की तरह गतिशील था। (कैडबरी वाला विज्ञापन)। कैडबरी? कंटेंट, बनाने का माध्यम? सीरीयल। यहाँ विज्ञापन भी मल्टी मीडिया है और सीरीयल भी मल्टी मीडिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आपको जो संदेश (कथ्य) पहुँचाना है, उसे आप उपरोक्त माध्यमों के संयुक्त सम्मिश्रण द्वारा पहुँचा सकते हैं। अर्थात् वह प्रसारण जो सम्मिश्र माध्यमों द्वारा संप्रेषित होता है (पाठ, ग्राफिक, ध्वनि)।

संप्रेषण के आधुनिक माध्यमों में मिश्रक के बाद भाषायी अभिव्यक्ति अथवा संप्रेषण के आधार के रूप में हम कंप्यूटर और नेट को शामिल कर सकते हैं। अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में दृश्य-श्रव्य, एनिमेशन, फिल्म, ब्लॉग, ई-कंटेंट, वेब पत्रिकाएं, नेट स्केप, गूगल (वेब 1.0, 12.0, 3.0.....) आदि को शामिल कर सकते हैं। अर्थात् विभिन्न कथ्य-रूपों के संयोजनों के उपयोग द्वारा निर्मित माध्यम एवं कथ्य को मल्टी-मीडिया कहते हैं। उदाहरण के लिए कंप्यूटर एक मल्टी-मीडिया है (वह माध्यम भी है और कथ्य भी है) – इसमें विभिन्न कथ्यों (कंटेंट्स) यथा पाठ, फोटो, चित्र, संगीत आदि का समावेश होता है। इसके विभिन्न रूप (सॉफ्टवेयर) तथा संचरण माध्यम हैं-यथा वेब, नेट, पावर पॉइन्ट, वर्ड, एक्सेल आदि। इनके संयोजनों

से आप एक नया माध्यम पावर पॉइन्ट प्रोग्राम, ब्लॉग-लेखन आदि बनाते हैं और उसमें भाषा प्रशिक्षण का कथ्य निर्मित करते हैं। अर्थात् एक से अधिक कथ्य-स्वरूपों से युक्त किसी माध्यम को मल्टी-मीडिया कहेंगे। बहु-माध्यम में पाठ, श्रव्य, स्थिर चित्र, एनिमेशन, दृश्य अथवा संवाद परक कथ्य-रूपों को शामिल किया जा सकता है। सवाल यह भी है कि आज इन बहु-माध्यमों की आवश्यकता क्यों पड़ी। भाषा शिक्षण का जो परंपरागत दृष्टिकोण था उसमें पढ़ना, लिखना, बोलना शामिल था अब नए दृष्टिकोण के अनुसार इसमें दो नयी बातें जुड़ गयी हैं- पढ़ना, लिखना, बोलना, देखना और सुनना। यह देखना और सुनना बहु-माध्यमों के द्वारा ही संभव है। सवाल यह है कि देखना और सुनना महत्वपूर्ण क्यों है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि दृश्यपरकता स्मृति में अधिक प्रभावशाली बन कर अंकित होती है क्योंकि वह भाषा-पूर्व (प्रि-लैंग्वेज) संप्रेषण का माध्यम है; क्योंकि चित्रात्मकता एवं ध्वनियाँ हमारे मस्तिष्क में उस स्थान (दक्षिण) पर अंकित होती हैं, जो सहज ही प्रवेश कर जाती हैं। यहाँ हमें पुनर्निर्माण नहीं करना होता है। बहु-माध्यमों द्वारा भाषा शिक्षण किस तरह प्रदान किया जाता है इसे थोड़ा समझ लें।

आज भाषा सीखने वाला केवल स्कूल में पढ़ने वाला विद्यार्थी नहीं है, बल्कि अनेक कारणों से समाज के विभिन्न तबके के लोग अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भाषा सीखना चाहते हैं। फिर हिन्दी सीखने वालों की संख्या बढ़ी है। अनेक लोग अनेक कारणों से हिन्दी सीखना चाहते हैं। फिर बाल शिक्षण से लेकर प्रौढ़ शिक्षण तक शिक्षा व्यापक रूप से फैली हुई है और बहु-माध्यम सभी प्रकार के लाभार्थियों को यथा योग्य शिक्षण प्रदान कर सकता है। आज नेट पर आपको इतने अधिक उदाहरण मिल जाएंगे जो हिन्दी भाषा प्रशिक्षण के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं। इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण लिंक्स हैं-

<http://www.viauc.com/schools-faculties/faculty-of-education-and-social-studies/exchange-programmes/Pages/animation-as-a-learning-tool.aspx>

<http://deity.gov.in/hindi/node/1426>

<http://hindiforyou.blogspot.in/2010/08/>

[blog-post.12.html](http://blog-post.12.html)

सी-डैक की पत्रिका अभिव्यक्ति

इसमें उन सभी वेब पत्रिकाओं को भी शामिल किया जा सकता है जो साहित्य के माध्यम से हिन्दी भाषा का प्रचार करती हैं। 'समालोचन', 'हिन्दी समय', 'सृजन-गाथा', 'रचनाकार', 'हिन्दी कोश', 'कविता कोश', 'हिन्दी विकीपीडिया' ...यह सूची बहुत लंबी है।

अन्तर्जाल में जैसे ही आप प्रवेश करते हैं तो आप पाते हैं कि वह एक ऐसा अज्ञान क्षेत्र है कि जहाँ से लौटने पर लगता है कि आप अपना देश-काल भूल गए हैं। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी भाषा प्रशिक्षण जिसने स्वतंत्रता के पूर्व दक्षिण हिन्दी प्रचार समिति और अन्य राज्यों की प्रचार समितियों में अपना कदम रखा था वह आगे चल कर भारत के लगभग विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन से आगे बढ़ता है। परन्तु केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (एवं उसके क्षेत्रीय कार्यालय) ने हिन्दी प्रशिक्षण के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। मोटूरिजी के प्रयासों से स्थापित इस संस्थान में हिन्दी भाषा शिक्षण एवं प्रशिक्षण को केवल हिन्दी क्षेत्रों में ही नहीं अपितु, हिन्दीतर और अब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नवीनतम बहु-माध्यमों के द्वारा वैज्ञानिक पद्धति से इस कार्य को आगे बढ़ाया जा रहा है। अब इस सूची में वर्द्धा विश्वविद्यालय भी भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी शिक्षण के मानकीकरण के संदर्भ में अनेक टूल्स बना रहा है। इग्नू, दिल्ली के दृश्य-श्रव्य कार्यक्रम इस बात की ओर संकेत देते हैं कि अब हिन्दी के अध्यापकों को ई-कंटेंट के माध्यम से भाषा शिक्षण देना चाहिए। यहाँ हिन्दी फिल्मों एवं गीतों की बात तो मैं छोड़ ही रही हूँ। जब कि मुझे इस बात का उल्लेख करना चाहिए कि विदेशों में बॉलीवुड की लोकप्रियता के चलते विदेशों में विदेशी छात्रों को हिन्दी पढ़ाने के लिए फिल्मी गीतों के माध्यम से हिन्दी पढ़ाने का उपक्रम अहमदाबाद निवासी डॉ अंजना संधीर ने किया है जो लोकप्रिय एवं प्रशंसित रहा। ये ही वे दृश्य श्रव्य माध्यम हैं बहु माध्यम हैं, जो हमारी आज की बहुस्तरीय शिक्षा पद्धति में भाषा प्रशिक्षण के लिए अधिक प्रभावशाली रूप से उभरेगी।

एक स्वप्न संकट बहुतेरे

राहें ओझल बोझिल रोड़े बहुतेरे

धूमिल छवि, पर्दे बहुतेरे  
 एक राह से चले  
 पहले दोराहा, फिर चौराहे  
 फिर बहु- राहों का मायाजाल  
 अन्तर्जाल  
 राह कठिन यह ?  
 सूझ बूझ हो तो फिर  
 सूझे बूझे .....  
 चित्रित, लपके, गाते, खोते  
 जुड़ते, अलगाते, फैले, बिछते, चले तब  
 दिख पड़ता वह  
 दूर  
 स्वप्न एक.....(हिन्दी ?)

वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, ज्योतिष और निरुक्त उनके (प्राचीन शिक्षा पद्धति) पाठ्य होते थे पाठ्यक्रम के विस्तार के साथ वेदों और वेदांगों के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण और चिकित्साशास्त्र इत्यादि विषयों का अध्यापन होने लगा। टोल पाठशाला, मठ और विहारों में पढ़ाई होती थी। कथा, अभिनय इत्यादि शिक्षा के साधन थे।

भिन्न-भिन्न अवस्था के छात्रों को कोई एक विषय पढ़ाने के लिए समकेंद्रीय विधि का विशेष रूप से उपयोग होता था सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक इस विधि के अनुकूल थे। कोई एक ग्रंथ के बृहत् और लघु संस्करण इस परिपाटी के लिए उपयोगी समझे जाते थे।

बौद्धों और जैनों की शिक्षापद्धति भी इसी प्रकार की थी।

मुसलमानों के शासन में शिक्षा पद्धति इस प्रकार की थी।

मकतब प्रारंभिक शिक्षा के केंद्र होते थे और मदरसे उच्च शिक्षा के। मकतबों की शिक्षा धार्मिक होती थी। विद्यार्थी कुरान के कुछ अंशों को कंठस्थ करते थे। वे पढ़ना, लिखना, गणित, अर्जीनवीसी और चिट्ठीपत्री भी सीखते थे। इनमें हिंदू बालक भी पढ़ते थे। मकतबों में शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी मदरसों में प्रविष्ट होते थे। यहाँ प्रधानता धार्मिक शिक्षा की थी। साथ-साथ इतिहास, साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित, कानून इत्यादि की पढ़ाई होती थी। सरकार शिक्षकों को नियुक्त करती थी। कहीं कहीं प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा भी उनकी नियुक्ति होती थी। अध्यापन फारसी के

माध्यम से होता था। अरबी मुसलमानों के लिए अनिवार्य पाठ्य विषय था। छात्रावास का प्रबंध किसी-किसी मदरसे में होता था। दरिद्र विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती थी। अनाथालयों का संचालन होता था। शिक्षा निःशुल्क थी। हस्तलिखित पुस्तकें पढ़ी और पढ़ाई जाती थीं।

प्रश्नोत्तर, व्याख्या और उदाहरणों द्वारा पाठ पढ़ाए जाते थे। कोई परीक्षा नहीं थी। अध्ययन अध्यापन में प्राप्त अवसरों में शिक्षक छात्रों की योग्यता और विद्वत्ता के विषय में तथ्य प्राप्त करते थे। दंड प्रयोग किया जाता था। जीविका उपार्जन के लिए भी शिक्षा दी जाती थी। दिल्ली, आगरा, बीदर, जौनपुर, मालवा मुस्लिम शिक्षा के केंद्र थे।

मुसलमान शासकों के संरक्षण के अभाव में भी संस्कृत काव्य, नाटक, व्याकरण, दर्शन ग्रंथों की रचना और उनका पठन-पाठन बराबर होता रहा। इन सभी को एक टेबल के माध्यम से बताया जा रहा है ताकि तुलना करना सरल हो।

भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव यूरोपीय ईसाई धर्मप्रचारक तथा व्यापारियों के हाथों से डाली गई।

ईसाई धर्म की शिक्षा के साथ-साथ इतिहास, भूगोल, व्याकरण, गणित, साहित्य आदि विषय भी पढ़ाए जाते थे। रविवार को विद्यालय बंद रहता था। अनेक शिक्षक छात्रों की पढ़ाई अनेक श्रेणियों में कराते थे। अध्यापन का समय नियत था। साल भर में छोटी बड़ी अनेक छुट्टियाँ हुआ करती थीं।

लार्ड मैकाले के तर्क वितर्क और राजा राममोहन राय के समर्थन से प्रभावित हो 1835 ई. में लार्ड बेंटिक ने निश्चय किया कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य और यूरोपीय इतिहास, विज्ञान, इत्यादि की पढ़ाई हो और इसी में 1813 के आज्ञापत्र में अनुमोदित धन का व्यय हो। प्राच्य शिक्षा चलती चले, परंतु अंग्रेजी और पश्चिमी विषयों के अध्ययन और अध्यापन पर जोर दिया जाए।

आजादी के बाद राधा कृष्ण आयोग (1948-49), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (1953), कोठारी शिक्षा आयोग (1964), शिक्षा की राष्ट्रीय नीति (1968) एवं नवीन शिक्षा नीति (1986) आदि के द्वारा भारतीय शिक्षा व्यवस्था को समय-समय पर सही दिशा देने की गंभीर कोशिश की गयी।

संपर्क : 09426700943



## ‘बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु’ : वर्तमान में अतीत की घुसपैठ!

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु!  
पूछेगा सारा गाँव बन्धु!

यह घाट वही जिस पर हँसकर,  
वह कभी नहाती थी धँसकर  
आँखें रह जाती थीं फँसकर,  
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु।

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,  
फिर भी अपने में रहती थी,  
सबकी सुनती थी, सहती थी।  
देती थी सबके दाँव बन्धु!

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’

प्रसिद्ध सर्जनात्मक और सैद्धान्तिक  
आलोचक तथा अद्यतन भाषाविज्ञानी

(सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, 23 जनवरी, 1950, ‘अर्चना’ संकलन में संकलित)

‘बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु’ ‘निराला’ का एक प्रसिद्ध लघु गीत है, जिसे प्रायः एक विफल प्रेम-गीत माना जाता है। कविता का आरंभ एक आग्रह से होता है, जो अपनी प्रकृति में निषेधात्मक है। आरंभ में ही कविता में निरूपित स्थल सामने आता है। यह स्थल नदी का, घाट का और गाँव का स्थल है। कविता का आरम्भिक प्रोक्ति में व्यक्त आग्रह ‘तुम-मैं स्थिति’ (You-Me Situation) को उद्घाटित करता है, जो वक्ता और श्रोता के बीच है। पर कविता को जो अनुभव-संवेद्य वर्ण्य है, वह ‘तुम-मैं’ से जुड़कर अर्थात् उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के बीच जो कथ्य-सन्दर्भ उभरता है, वह अन्य पुरुष का है। काल की दृष्टि से यह गीत वर्तमान और अतीत के बीच दोलायित है।

गीत की पहली प्रोक्ति का प्रथम वाक्य जहाँ निषेधात्मक है, वहीं दूसरा वाक्य विधेयात्मक है। पहला वाक्य वर्तमान-कालिक है, तो दूसरा वाक्य आसन्न भविष्य-कालिक। पहला वाक्य कर्म (Act)-परक है, यह बाँधने की विशेष क्रिया सम्पन्न नहीं करने का आग्रह है, जो अपने आप में कार्यात्मक है, तो दूसरा वाक्य इस कार्य को नहीं सम्पन्न करने के आग्रह का मूल कारण है। इसलिए वह कारणात्मक वाक्य है। आग्रह है कि नदी के इस किनारे पर, इस घाट पर नाव नहीं बाँधो, क्योंकि सारा गाँव मुझसे बहुत-कुछ पूछने चला आएगा और यह पूछना मेरे लिए असह्य होगा। गाँव वाले क्या पूछेंगे, यह यहाँ अध्याहत है, अनुल्लिखित है, पर वह सहज अनुमेय है कि गाँव वाले उस बीते सन्दर्भ में बहुत-कुछ पूछेंगे! पर सन्दर्भ क्या है, इसका भी उल्लेख गीत के आरंभ में नहीं है। हाँ, पहले वाक्य में जो निषेधात्मकता व्यक्त हुई है, उसके मूल में मानों एक लोक-भय या संकोच का भाव है।

पर प्रश्न यह है कि इस गीत का आलम्बन कौन है, श्रोता कौन है, जिससे कवि गीत का ‘मैं’ यह आग्रह कर रहा है। वस्तुतः यह गीत जिसके क्रिया-कलाप की प्रशंसा है, वह, साथ ही जो संबोधित ‘बन्धु’ है, सभी गीत में अनुल्लिखित हैं, उसका कोई नाम नहीं है। केवल अध्याहत सर्वनाम ‘तुम’ ही इसका वाचक है। सर्वनाम प्रायः मुखौटा (Persona) डाले होते हैं। इस सन्दर्भ में इस सम्बोधिनी या श्रोता के मुखौटे

(Persona) को उठाने का प्रयास 'निराला' – काव्य के प्रसिद्ध आलोचक राम विलास शर्मा ने किया है, पर जो उन्होंने लिखा है वह घोर असंगत बन कर रह गया है, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट और उद्घाटित आलम्बन की कहीं से भी कोई संगति नहीं बैठ पाती है।

राम विलास जी ने इस 'बन्धु' सम्बोधन के आलम्बन की पहचान करते हुए लिखा है कि 'इस गीत में अवैध प्रेम करने वाली नारी पुरुष को सावधान करती है, लोक लाज का भय दिखलाती है, किन्तु इस बहाने अपनी नाव बाँधने के लिए पुरुष को आमंत्रित भी करती है।' (निराला की साहित्य-साधना, भाग-2, पेपर बैक संस्करण, पृ. 209) राम विलास जी को लगता है कि इस गीत के वाचक के साथ-साथ नाव पर अवैध प्रेम करने वाली उसकी वह (पूर्व?) प्रेमिका भी विद्यमान है, जिसके साथ उसका अवैध सम्बन्ध है। वही वाचक पुरुष को सावधान करती है। सम्बोधन उसी की ओर से है। वही वाचिका है। पर इसकी संगति नहीं बैठ पाती है। यहां जो उत्तम-मध्यम पुरुष (Person) की 'तुम-मैं' स्थिति (You-me situation) है, उसके तुरन्त बाद कविता का कथ्य अन्य पुरुष स्थिति में आ जाता है—

“यह घाट वही जिस पर हँसकर,  
वह कभी नहाती थी धँसकर  
आँखें रह जाती थीं फँसकर,  
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु!”

अब यदि घाट पर स्नान करने वाली नारी कोई और है, अन्य पुरुष (Third person) है, तो नाव पर अवैध प्रेम करने वाली नारी की उपस्थिति गलत हो जाती है। यहाँ कोई एक नारी ही प्रेम का आलम्बन हो सकती है। वस्तुस्थिति यह है कि नाव पर कविता के वाचक और नाविक (पुरुष) के अतिरिक्त और कोई नहीं है, कोई नारी नहीं है। यहाँ दो संभावनाएँ हैं। या तो नाव पर वाचक अकेला है। उसके अतिरिक्त केवल नाविक की स्थिति है और वाचक, जो इस प्रेम-प्रसंग का भोक्ता रहा है, वह नाविक से आग्रह करता है कि सामने आ रहे घाट पर वह नौका नहीं लगाए। इसके पीछे उसकी सारी पूर्व स्मृतियों की सक्रियता है। उस प्रेमिका के विषय में लोगों के द्वारा

पूछे जाने का भय या कि लोकलज्जा भी है। दूसरी स्थिति कविता के वाचक के नितान्त अकेले होने की है, जहाँ वही नाविक है और वही यात्री भी और 'बन्धु' सम्बोधन वह स्वयं अपने मन के लिए कर रहा है। पूरे गीत में नारी एक ही है, जो अतीत की है, पर स्मृति में बसी हुई है। उसकी हँसी की प्रभविष्णुता उसके चित्त पर अब तक छायी हुई है। अतः उसके साथ वर्तमानकालिकता में नाव पर उसकी अवैध प्रेमिका के, किसी नारी के विद्यमान होने की स्थिति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

'निराला' ने स्वयं 'मेरे गीत और मेरी कला' शीर्षक अपने आलेख में यह स्पष्ट किया था कि कविता का बोध या कि उसका अर्थ-भावन उसके साकल्य (Wholeness) में, उसकी पूर्णता (Totality) में किया जाना चाहिए। पश्चिम में संरचनावादी आलोचना में भी इस 'साकल्य' और 'पूर्णता' पर बल दिया गया है। इसलिए भी इस गीत के बोल को इसके अगले चरण के सन्दर्भ से काट कर नहीं समझा जा सकता। अतः भावक को इसका सही भावन इस पूरे गीत को आत्मसात् करने के पश्चात ही संभव हो सकता है।

'गाँव' शब्द ग्राम का तद्भव रूप है। ग्राम का मूल व्युत्पत्त्यर्थ समूह होता है। समूह के एक जगह रहने-बसने को ही 'ग्राम' कहा जाने लगा था। इसलिए गाँव से गाँव के लोगों का आशय लक्ष्यार्थ से लग जाता है। गीत में आगे जो मुख्य क्रिया-व्यापार आए हैं, वे उत्तम पुरुष (Third person) के स्मरण में बसी एक युवती (वह) के स्नान बिंब से सम्बन्धित है, जो खुले आकाश के तले मुक्त तन-मन नदी के इस घाट पर स्नान किया करती थी। वह प्रसन्न-वदना थी। वह जल में गहरे धँसकर नहाती थी। वह नहाते समय भी हँसती रहती थी। उसके स्नान व्यापार का यह बिम्ब द्रष्टा की आँखों को बाँध लेता था, वहाँ वह स्थायी तौर पर अंकित हो जाता था। यहीं निराला की एक अन्य कविता का बिम्ब अन्तरपाठीय सम्बन्ध बनाता हुआ उभरता है—

‘तरे जल में अवसन श्यामा  
अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो’।

पर वहाँ प्रशान्त एकान्त है, जबकि प्रस्तुत गीत में एक द्रष्टागत हलचल है। कवि लिखता है—

“यह घाट वही जिस पर हँसकर,  
वह कभी नहाती थी धँसकर  
आँखें रह जाती थीं फँसकर,  
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु।  
बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु।”

कवि यहाँ नदी के किनारे पर नाव के नहीं बाँधने के उस मूल कारण का, गाँव वालों के द्वारा पूछने आने का उल्लेख करता है। वह अपना स्मृति बिम्ब-प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल ने इसे ही ‘स्मृत रूप-विधान’ कहा है। भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने इसमें ‘स्मरण’ नामक अलंकार भी देखा है। पर यहाँ इस स्मृत रूप-विधान के साथ कल्पित रूप-विधान भी जुड़ा हुआ है। इस घाट से के साथ नाव पर यात्रा करने वाले की आत्मीय स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। इन स्मृतियों का वह संवृत्त नहीं रहने देकर खोलता है। यद्यपि इस खोलने में भी अर्ध-गोपन और गोपन जैसी स्थितियाँ शेष रह जाती हैं। यहाँ जिस घाट पर नाव के बाँधने का निषेध किया जा रहा है, इसी पर वह युवती कभी अतीत काल के जल में धँसकर नहाया करती थी और हँसती रहती थी। वह स्मृति-वदना थी। कवि ने हँसने की क्रिया के उल्लेख-मात्र से उसके अधरोष्ठ, दन्तावली और मुख मण्डल का सौन्दर्य संकेतिक-उद्घाटित कर दिया है। ‘धँसकर’ क्रिया के प्रयोग से मानों उसके स्वस्थ, पीन नितम्ब और उसके सौन्दर्य को उद्घाटित कर दिया गया है। ‘फँसकर’ जैसी पूर्वकालिक क्रिया का सीधा संबंध यहाँ ‘आलम्बन’ से न होकर ‘आश्रय’ से है, युवती से न होकर इस स्नान-दृश्य देखने वाले द्रष्टा से है। पर आँखों के फँसने का मूल हेतु आलम्बन ही है, जो आश्रय में क्रिया को चरितार्थ करता है।

एक बार पुनः कविता की पहली उपप्रेक्ति के दूसरे उपवाक्य की ओर लौटें। यहाँ तक स्मृति-बिम्ब से इतना ही पता चल पाता है कि निषेध का यह आग्रही कभी उस युवती के स्नान-बिम्ब का द्रष्टा था। वह सामान्य द्रष्टा न होकर उस युवती से आत्मीय संबंध रखने वाला विशेष द्रष्टा था। उससे प्रेम करने वाला मुग्ध द्रष्टा था। पर वह उससे जुड़ नहीं पाया। शायद पलायन कर गया। वह उसको अपनाने का साहस नहीं जुटा सका। संभव है, वर्ण और वर्ग-वैषम्य इसका कारण रहा हो। सम्भव है, तब भी द्वन्द्व की

मनःस्थिति में इस ‘मैं’ के मन में यही भाव उठे हों- ‘बाँधों न नाव इस ठाँव बन्धु’। यही उसका अंतिम निर्णय हुआ हो, क्योंकि उसको अपना लेने पर भी गाँव वाले अनेकानेक प्रश्नों से उसे वेधते-छेदते रहते। उनके बीच उसे सामाजिक मान्यता नहीं मिल पाती। यहाँ पुनः एक अन्तरपाठीय सन्दर्भ उभरता है पर यह एक विरोधी सन्दर्भ है। रसखान की कविता में कृष्ण से मिलने के लिए प्रतिबंधित एक गोपी कृष्ण से नहीं मिलने के पारिवारिक, सामाजिक प्रतिबन्ध और वादे से सहसा अन्तरण कर लेती है और यह स्पष्ट कह देती है- ‘टेरि कहाँ सिंगरे ब्रजलोकनि काल्हि कोऊ कितनों समझैहे माई री वा मुख की मुस्कानि/समहरि न जैहे न जैहे न जैहे

यह युवती कहना चाहती है कि ऐसी स्थिति में वह पारिवारिक, सामाजिक प्रतिबंध तोड़ देगी। वहाँ स्त्री होकर भी समाज के सारे दबावों को झेलने का और दाव लगाने की शक्ति रखती है और यह साफ कह देती है कि तब मैं उससे मिलने चली जाऊँगी। पर नाव का यह यात्री, स्नान-निरत युवती का प्रेमी अपने अतीत में उसके हँसते हुए मुख-बिम्ब को बलात् विस्मृत कर देता है। वह उसके वशीभूत नहीं हो पता है और समाज तथा गाँव में नित्य नये ढंग से होने वाली चर्चा और लोकापवाद के कारण वह उसे युवती और गाँव दोनों को ही छोड़ जाता है। इस तरह ‘बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु’ वर्तमान और अतीत दोनों से जुड़ जाता है और इसकी साभिप्रायता दोनों ओर अपनी सार्थकता चरितार्थ करने लगती है।

यहीं स्पष्ट होता है कि नाव का यह यात्री नाविक से या कि स्वयं नाविक होने की स्थिति में स्वयं से जो यह आग्रह करता है कि “इस नाव को इस घाट पर गाँव के किनारे मत लगाओ”, ऐसा निर्णय वह अपने अतीत में भी कर चुका है। तब वह अपने जीवन की सरिता में अपने प्रेम की नौका को युवती के नहाने वाले उस घाट पर नहीं बाँध सका था, उससे अपना प्रेम-संबंध स्थायी नहीं बना सका था, क्योंकि वहाँ सामाजिक वर्गगत और वर्णगत असमानता विद्यमान थी। यह प्रेम वर्णोत्तर या विजातीय था और संभवतः मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के बीच का था। सो यह आग्रह वह अपने जीवन में पहले भी कर चुका है और उसके अनुरूप ही वहाँ से पलायन भी कर चुका है। आज उसकी

साम्प्रतिकता में उसे दूसरा भय सता रहा है कि अब लोग उसकी उस भीरुता, उस प्रेम-वंचना के विषय में उससे पूछेंगे, सच्चे प्रेमी उसे कोसेंगे और उसे उस युवती की कथाव्यथा सुनाएंगे, जिसे वह सहन नहीं कर पाएगा। वह उससे पलायन करके भी कहाँ पलायन कर सका? आज फिर वह नाव को इधर ही ले आया है। उसके मन का मोह या प्रेम-तृष्णा इस दिशा में उसे पुनः खींच लायी है। पर अब तक तो वह सब कुछ जागतिक रूप में अतीत-व्यतीत हो चुका है। गीत का दूसरा बंद है-

“वह हँसी बहुत-कुछ कहती थी,  
फिर भी अपने में रहती थी,  
सबकी सुनती थी, सहती था।  
देती थी सबके दाँव बन्धु!”

कवि ने इस गीत में तीन पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रयोग किये हैं- हँसकर, धँसकर और फँसकर। इनमें वह केवल एक पूर्वकालिक क्रिया धँसकर की विशेषता को निरूपित करता है। निश्चय ही यह विशेषता युवती के शील से जुड़ी है। उसकी हँसी में आमंत्रण का भाव तो था, पर उसमें कोई इकहरा संकेत नहीं था। उसमें कई संकेत थे, जिसे ‘बहुत-कुछ’ से द्योतित किया गया है। उस पर लोगों के द्वारा आरोपित टीका-टिप्पणियाँ उत्कर्षमूलक और अपकर्षमूलक दोनों ही थीं। पर युवती की ‘हँसी’ अनेक संकेतों को उभारने के बाद भी मर्यादित रहती थी। वह कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती थी। वह सबकी टिप्पणियाँ सुन लेती थी, पर किसी का भी उत्तर नहीं देती थी। उसमें गजब की सहनशीलता थी। साथ वह सबको अपना-अपना दाव लगाने का अधिकार भी देती थी। इस प्रकार यह कविता नितान्त ऐकान्तिक प्रेम-कविता नहीं रह जाती है, पर समाज के वर्गगत और वर्णगत वैषम्य के कारण विफल प्रेम की एक उत्कृष्ट कविता के रूप में भी अनुभूत होने लगती है।

इस प्रेमगीत में ‘हँसी’ या ‘हँसकर’ की तो व्याख्या की गयी है, पर ‘धँसने’ और ‘फँसने’ की व्याख्या नहीं करने के कारण इस गीत-प्रोक्ति में परिणामसूत्र खण्डित हो जाता है, क्योंकि ‘हँसने’, ‘धँसने’, ‘फँसने’ का जो तीन बिम्ब-विधान किया गया था उन तीनों में केवल पहले एक

की ही व्याख्या करके दो अध्याहत रह जाने दिया गया है। इस तरह परिणाम सूत्र टूट जाने से इस गीत में प्रोक्ति-स्तर की अनुमेय विवक्षा सामने आयी है। युवती उस स्रोतस्विनी सलिला में धँसकर क्या नहाती थी, बल्कि वह प्रेम की अन्तःसलिता में धँस कर नहाती थी। पर उसका ‘आश्रय’ इस तीव्रता को नहीं समझ सका और उसे अपनाने के लिए ‘हाँ’ नहीं कर सका। उस क्रिया के मूल में जो बेजोड़ आकर्षण और आवर्जन था, वह भावक-द्रष्टा के मन में अब तक विद्यमान है। हाँ, उसने इतना अवश्य किया कि जो सात्विक अनुभाव उसकी काया में संचारित होने लगा था- ‘कँपते थे दोनों पाँव बंधु’, उसको उसने नियंत्रित किया और वहाँ से चला गया। समाज के आक्षेपों को सहन करने की शक्ति उस युवती के पास तो थी, पर इस प्रेमी के पास नहीं थी। उसके तद्कालीन वर्तमान के यथार्थ में जो ऐसे आक्षेप होते थे, उसे वह सहन कर लेती थी। पर युवक में अपने प्रति समाज के आक्षेप की यथार्थता को सहने और उससे लड़ने की शक्ति नहीं थी। उस पर दाव लगाने की शक्ति नहीं थी।

कविता का यह वाचक, जो युवती, घाट और गाँव तीनों को छोड़कर चला गया था, आज अनेक वर्षों बाद उसी जल-मार्ग से गुजर रहा है। अब यहाँ स्थल दो हैं। एक तो है भौगोलिक स्थल (Geographical Space), पर दूसरा है मानसिक स्थल (Mental Space)। प्रेमी की बड़ी विचित्र स्थिति है। उसने तो उस भौगोलिक स्थल से पलायन किया था, सो वह मूर्त रूप से वहाँ लौटना नहीं चाहता है। पर उसके मानसिक स्थल में यह भौगोलिक स्थल-गाँव और घाट की वह युवती आज भी विद्यमान है, जिसे वह विस्मृत नहीं कर सका। अब जो वह यह आग्रह करता है कि यहाँ नाव नहीं बांधो, तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसके मानसिक स्थल पर उसके यौवन के घाट पर उसके प्रेम की नौका अब भी पूर्ववत् बंधी-की-बंधी है। यदि तब वह प्रेम-नौका यात्रा नहीं कर सकी, तो वह स्वयं इतने बीते सालों में इसे अपने मानसिक स्थल से निष्काषित भी तो नहीं कर सका। वर्तमान में अतीत की यह घुसपैठ ही इस गीत रूप में निरूपित प्रेम की भौगोलिक और मानसिक विडम्बनात्मकता है।

## जीवन्त दक्षतावेज हैं सुबोध कुमार श्रीवास्तव के उपन्यास

विगत 29 मार्च को माया राम सुरजन स्मृति भवन में एक सादे समारोह में वरिष्ठ कथाकार-उपन्यासकार श्री सुबोध कुमार श्रीवास्तव के दो नये उपन्यासों का लोकार्पण हुआ। आयोजन की अध्यक्षता प्रख्यात आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा ने की। विशिष्ट अतिथि कथाकार स्वयंप्रकाश एवं मुख्य वक्ता श्री ओम भारती, पूर्णचंद्र रथ एवं शंशाक थे। कार्यक्रम म. प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवं म. प्र. प्रगतिशील लेखक संघ के तत्त्वावधान में संपन्न हुआ।

सर्वप्रथम कवि-कथाकार-आलोचक ओम भारती ने अपने वक्तव्य में 'चिरैया गाँव की चिड़िया' को केन्द्र में रखते हुए सुबोध जी की भाषा-शैली, विषय-वस्तु एवं चरित्रों के विकास की विशिष्टताओं को रेखांकित किया। चूना खदानों के विशाल अंचल में चल रहे खनन-माफिया के शोषण एवं वहां काम करने को विवश श्रमिकों की व्यथा-कथा को आंचलिक कथन में ढालते हुए सुबोध कुमार श्रीवास्तव अपनी वैचारिकता को इतने कम शब्दों में प्रभावी ढंग से रख सके हैं कि यह आकार में छोटा होकर भी एक बड़ी औपन्यासिक कृति है।

कवि, अनुवादक एवं चिंतक पूर्णचंद्र रथ ने दूसरे उपन्यास 'रात और मौत के आगे आगे' पर अपने विचार रखते हुए कहा कि भोपाल की ऐतिहासिक गैस त्रासदी के प्रत्यक्ष अनुभवों से बुना गया और रिपोर्टाज सा लगता यह उपन्यास मौत से पंजा लड़ती मानवीय जिजीविषा को सजीव और विजयी बना देता है। उन्होंने लेखक के पिछले उपन्यासों व कहानी-संग्रहों के साथ जोड़कर स्पष्ट किया कि किस तरह सुबोध श्रीवास्तव एक समर्थ रचनाकार के रूप में उभरे हैं।

कथाकार शंशाक ने लेखक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को आत्मीय ढंग से विश्लेषित किया। उनकी दृष्टि में ये कृतियाँ लम्बी कहानियाँ ही हैं।

श्री स्वयंप्रकाश ने मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए बताया कि हिन्दी में भोपाल के गैस कांड पर यह पहली कथा-रचना है, जबकि अंग्रेजी में इस विभीषिका पर खूब लिखा गया है। अध्यक्षीय वक्तव्य में धनंजय वर्मा ने कृति के ताने-बाने खोलते हुए सुबोध श्रीवास्तव की कहानी की सहज रूप से साध लेने की कला से पहचान कराई। अपने अंदाज में उन्होंने कहानी और उपन्यास में भेद करते हुए कहानी को सौ मीटर की दौड़ और उपन्यास को मेराथन रेस का नाम दिया। कार्यक्रम में भोपाल के प्रमुख साहित्यकार बड़ी संख्या में उपस्थित थे जिनमें श्री मनोहर वर्मा, पलाश सुरजन, राम प्रकाश, विजय अग्रवाल, द्वारिकाकेश नेमा, अखिलेश, उर्मिला शिरीष, सेवाराम त्रिपाठी, कुमार अम्बुज, प्रज्ञारावत, रेखा कस्तवार, शिव कुमार अर्चन, महेन्द्र गगन, मोहन सिगोरिया, इंदिरा दांगी, बलरा गुमाशता, शिवराज सिंह, संजय द्विवेदी, राज तैलंग, उषा प्रारब्ध आदि शामिल थे।

प्रस्तुति- ओम भारती

## विद्यासागर विश्वविद्यालय में दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी

13 मार्च 2014, मिदनापुर, विद्यासागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की ओर से प्रख्यात साहित्यकार 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन : सृजन एवं चिंतन' विषय पर दो दिवसीय (11-12 मार्च) राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर प्रख्यात आलोचक डॉ. शंभुनाथ ने बीज भाषण देते हुए कहा कि राहुल के समग्र चिंतन में बहुज्ञता, बुद्धिवादिता, लोकोन्मुखता, अनुसंधानवृत्ति एवं उदात्तता है। इसके अतिरिक्त विभागाध्यक्ष दामोदर मिश्र ने भी अपने विचार व्यक्त किए। प्रो. मधुलता गुप्ता, डॉ. विभा कुमारी, डॉ. सुनीता साव, प्रो. अल्पना नायक, संदीप प्रसाद, मंटू कुमार साव, प्रो. प्रतीक ने भी आलेख-पाठ किया।

संगोष्ठी के दूसरे दिन कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रो. रबीन्द्र नाथ मिश्र (शांतिनिकेतन) ने की। बतौर वक्ता डॉ. महेंद्र प्र. कुशवाहा (असम विश्वविद्यालय), डॉ. पंकज साहा, प्रो. तपन कुमार दे ने अपना विचार रखा। प्रो. मकेश्वर रजक, डॉ. कृष्ण कुमार श्रीवास्तव, डॉ. प्रमोद कुमार प्रसाद, डॉ. ज्योतिमा मिश्र, ज्योतिमा बाग, रंजीत कुमार सिन्हा, अरुण रजक ने आलेख पाठ किया। समापन समारोह में उपस्थित थे प्रो. प्रभात कुमार मिश्र। कार्यक्रम का सफल संचालन प्रो. संजय जायसवाल और डॉ. मुन्नी गुप्ता ने किया।

प्रस्तुति-डॉ. संजय जायसवाल

## शोभा सिंह के कविता संग्रह 'अर्द्ध विधवा' का लोकार्पण

### सच को निर्भीकता से कहने का साहस है शोभा की कविताओं में

शोभा सिंह की कविताएँ सच बयान करती हैं और उस सच को निडरता के साथ अभिव्यक्त करना बड़े साहस की बात है। इसकी वजह उनकी संवेदनशीलता, कलात्मक सुघड़ता और वैचारिक प्रतिबद्धता है। यह बात कवि व संस्कृतिकर्मी शोभा सिंह के पहले कविता संग्रह 'अर्द्ध विधवा' के लोकार्पण के मौके पर मौजूद वक्ताओं ने कही। नए प्रकाशन गृह गुलमोहर किताब द्वारा प्रकाशित कविता संग्रह का लोकार्पण शुक्रवार, 4 अप्रैल 2014 को दिल्ली के हिन्दी भवन में हुआ।

वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल ने शोभा सिंह की काव्यकृति 'अर्द्ध-विधवा' का लोकार्पण किया। उन्होंने अपने वक्तव्य में शोभा सिंह की कविताओं में अभिव्यक्त निडरता एवं निर्भीकता की चर्चा करते हुए उन्हें शमशेर घराने का सच्चा कवि ठहराया। डबराल जी के अनुसार शोभा की कविताओं में शब्द रंगों में बदलते नजर आते हैं जो उनकी भाषा की मजबूती का परिचायक है। वरिष्ठ कवि सविता सिंह ने कहा कि यह संग्रह आँख खोलने वाला है क्योंकि इसमें जिस तरह से नारीवादी विमर्श को कम्युनिस्ट आन्दोलन और उसके अन्तर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में बुना गया है वह बहुत महत्वपूर्ण है। 'वाघा बॉर्डर' और बेगम 'मेहकनिशां चिश्ती की फरियाद' शीर्षक कविताओं का जिक्र करते हुए कहा कि शोभा सिंह की ये कवितायें अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को चिह्नित करती हैं। उन्होंने शोभा सिंह की कविताओं में प्रगतिशील धारा की मजबूत उपस्थिति बताई।

वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने शोभा सिंह का सन्दर्भ मलयज एवं शमशेर बहादुर सिंह से जोड़ते हुए उनकी कविताओं में ऊँची उड़ान की चर्चा करते हुए कहा कि शोभा सिंह की कविताएँ स्त्री आकांक्षाओं से भरी हुई हैं। कवि सुमन केशरी के संग्रह के शीर्षक पर टिप्पणी करते हुए कहा कि यह चौंकाने वाला है और पाठक को अपनी ओर खींचने को बाध्य करता है। उन्होंने 'सरकारी अस्पताल का दवा काउंटर' और 'सुई धागा' शीर्षक कविताओं का उल्लेख करते हुए शोभा सिंह की कविताओं के बारीकी की तारीफ की।

अनुवादक सुरेश सलिल ने शोभा की कविताओं को पाठकों से सीधे हार्दिक रिश्ता जोड़ने वाला बताया और कहा कि ये समाज-चेतना से पूरी तरह से लैस हैं। उन्होंने 'गढ़ो अब नई परिभाषा' और 'शब्द अर्थ खो चुके हैं' शीर्षक कविताओं को समाज की पैनी पड़ताल करने वाली बताया। रजनी अनुरागी ने अपना विस्तृत परचा पढ़ते हुए कहा कि शोभा सिंह की कविताएँ औरत की विभिन्न विडंबनाओं को उजागर करती हैं। उन्होंने अर्जेंटीना प्रवास के दौरान शोभा सिंह की लिखी गई कविता 'कवेर्नास दे बुखास' का हवाला देते हुए कहा कि इसे पढ़ते हुए भारत में डायन बनाकर स्त्रियों को सताने का मंजर जेहन में उभरता है। विपिन चौधरी ने शोभा सिंह की कविताओं की खास बात यह बताई कि इनमें एक तरफ स्त्री की जीवंतता, उसके वजूद की कश्मकश है तो दूसरी तरफ बड़े लोकतांत्रिक संघर्षों की दास्तान है। कार्यक्रम में कवि विपिन चौधरी, कहानीकार आकांक्षा पारे काशिव वरिष्ठ कवि शिवमंगल सिद्धांतकार, कथाकार पंकज विष्ट, आलोचक आशुतोष आदि ने अपने विचार व्यक्त किए।

शिवमंगल सिद्धांतकार ने 'अर्द्ध विधवा' संग्रह को हिंदी कविता की सीमा को तोड़ने वाला बताया और पंकज सिंह ने शोभा सिंह की कविताओं को प्रखर, भिन्न स्वर से लैस बताते हुए कहा कि ये अपना अलग सौंदर्यशास्त्र रचती है। पंकज विष्ट ने 'अर्द्ध विधवा' और 'वाघा बॉर्डर' शीर्षक कविताओं का जिक्र करते हुए कहा कि ये अंधे देशभक्ति की कड़ी मुखालफत करती हैं। फिनलैंड से आए हिंदी कवि और चित्रकार सईद शेख ने शोभा सिंह की कविताओं को बहुत प्रभावशाली और गहरा असर डालने वाली बताया।

कवि मुकुल सरल व युवा लेखक राज वाल्मीकि ने भी 'अर्द्ध विधवा' कविता संग्रह को बहुत महत्वपूर्ण बताया। कार्यक्रम का संचालन लेखक व पत्रकार भाषा सिंह ने किया और पत्रकार उपेन्द्र स्वामी ने धन्यवाद



दिया। कार्यक्रम की शुरुआत में वरिष्ठ कवि-लेखक और गुलमोहर किताब के निदेशक अजय सिंह ने इस प्रकाशन गृह की स्थापना और उद्देश्य के बारे में बताया। कार्यक्रम में बड़ी संख्या में साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी व साहित्यप्रेमी मौजूद थे, नूर जहीर, कमलेश अवस्थी, रेखा अवस्थी, निशात कैसर, अजय नावरिया, आनंदस्वरूप वर्मा, रामकुमार कृषक, बेजवाड़ा विल्सन, वैभव सिंह, बजरंगबिहारी तिवारी, अशोकचंद्र, मुकल मानस, परवेज अहमद, चंद्रभूषण, संगम पाण्डेय, रामशिरोमणि शुक्ल, वीरेंद्र जैन, योगेंद्र आहूजा, लोकेश जैन, मनीष कंसारा, अवतार सिंह जसवाल, इंदिरा राठौर, पंकज श्रीवास्तव, अनुराग सिंह, दामिनी आदि शामिल थे।

प्रस्तुति- अजय सिंह

## मुंबई विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय अंगोष्ठी

‘अनभै’ के दस वर्ष और भारतीय सिनेमा के सौ वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय अंगोष्ठी 7-8 अप्रैल 2014 को जे.पी. नाइक भवन मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर में संपन्न हुई।

मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे प्रसिद्ध फिल्म निर्माता-निर्देशक सागर सरहदी तथा डॉ. माधुरी छेड़ा। ‘अनभै’ के संचालक एवं संपादक डॉ. रतन पाण्डेय ने अतिथियों का स्वागत करते हुए अनभै की भावी योजनाओं पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर ‘अनभै’ ने अपना वेबसाइट [www.anabhai.com](http://www.anabhai.com) जारी किया और संपादक डॉ. पाण्डेय की पुस्तक ‘मीडिया और साहित्य’ एवं ‘अनभै’ – त्रैमासिक के सिनेमा विशेषांक का विमोचन हुआ। डॉ. नगमा जावेद तथा प्राध्यापक दत्ता मुरुमकर ने अपने विचार व्यक्त किए। प्राध्यापक मुरुमकर ने कहा “अनभै पत्रिका नहीं आंदोलन है, एक नया युग है।” लेखक रवीन्द्र कात्यायन ने अनभै की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला। डॉ. मधु खराटे ने कहा कि ‘यह पत्रिका नहीं पाण्डेय जी का मिशन है।’ और यह अहिंदी भाषी लेखकों को भी प्रोत्साहित करती है तथा बीड़ के डॉ. धनराज मानधने ने अपने विचार व्यक्त किए और कवयित्री रीता राम ने ‘अनभै के सामाजिक सरोकार’ पर अपना आलेख प्रस्तुत किया। मुख्य अतिथि प्रसिद्ध फिल्मकार एवं समीक्षक सागर सरहदी ने साहित्य और सिनेमा के संबंधों की व्याख्या करते हुए कहा कि “अगर मुझे फिल्मों से भागना पड़ा तो मेरे लिए यह जगह महफूज है, जहाँ मैं आ सकता हूँ, पनाह ले सकता हूँ।” अध्यक्षीय भाषण में डॉ. माधुरी छेड़ा ने अनभै पत्रिका को आज के परिवेश में प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण बताया।

दूसरे दिन 8 अप्रैल 2014 को डॉ. रामजी तिवारी (पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, मुंबई विश्वविद्यालय) ने सिनेमा और विज्ञापन के संबंधों पर प्रकाश डाला। डाक्यूमेंट्री निर्माता एवं निर्देशक रामजी यादव ने इस विषय से संबंधित अपना आलेख पढ़कर विषय की गंभीरता को संकेतित किया। शोध छात्रा वंदना गौतम ने ‘सिनेमा में बच्चे’ विषय पर अपना आलेख पढ़ा और जबलपुर से आए प्राध्यापक डॉ. अरुण कुमार मिश्र ने ‘सिनेमा में गाँव’ विषय पर अपने आलेख में गाँव के लुप्त होने की समस्या पर चिंता व्यक्त किया और मुख्य अतिथि संजय भारद्वाज ने सिनेमा की भाषा, पात्र, वातावरण, गीत, कथा आदि पर विचार व्यक्त किया। अर्जुन चहवाण (पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर) ने फिल्मों के गीतों पर अपने विचार व्यक्त किए। शोध छात्रा अंजू गुप्ता ने ‘सिनेमा में नारी’ विषय पर तथा डॉ. हूबनाथ पाण्डेय (मुंबई वि वि सहयोगी प्राध्यापक) ने समांतर सिनेमा विषय पर अपने आलेखों का पाठ किया। दिनकर न्यासपीठ नई दिल्ली के संचालक नीरज कुमार ने संपादक डॉ. रतन कुमार पाण्डेय को धन्यवाद दिया और प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक एवं रंगकर्मी श्री मुजीब खान ने भी अपने विचार व्यक्त किये तथा एम.ए. द्वितीय वर्ष के छात्र हार्दिक भट्ट ने हिंदी गीतों को गाकर सबको मंत्र मुग्ध कर दिया अंत में शोध छात्र अमित शर्मा, रामलखन एवं पूजा सिंह ने भी अपना अभिमत व्यक्त किया।

प्रस्तुति - वंदना गौतम, मनीषा पांगत

## कलकत्ता विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय अंगोष्ठी

कलकत्ता विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग में 21.03.2014 को 'कविता में कितना दम' विषय पर एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई। कार्यक्रम का आरंभ विभागाध्यक्ष डॉ. राम आह्लाद चौधरी द्वारा विषय प्रवर्तन से हुआ। उन्होंने कहा कि आज के डिजिटल युग में जबकि जीवन के व्याकरण में बदलाव आ रहा है, कविता के व्याकरण में भी बदलाव आना स्वाभाविक है। बीज भाषण रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. सुब्रत लाहिड़ी ने प्रस्तुत किया। उन्होंने कविता के पारंपरिक एवं अधुनातन स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में उसके जनतांत्रिक स्वरूप को उजागर किया तथा गद्यात्मक विद्याओं के वर्चस्व के युग में भी उसकी शक्ति का मूल्यांकन किया। नेपाल के काउन्सिल जेनरल चंद्र कुमार घिमिरे ने नेपाली एवं हिंदी कविता की तुलना करते हुए उन्हें जनजागृति का सबसे बड़ा हथियार बताया। इस संगोष्ठी में विद्यासागर विश्वविद्यालय से डॉ. दामोदर मिश्र, कलकत्ता विश्वविद्यालय की उर्दू विभागाध्यक्ष डॉ. शहनाज नवी, डॉ. राजश्री शुक्ला, डॉ. इंदु जोशी, डॉ. अजीत सिंह, डॉ. कमलेश पाण्डेय, डॉ. सुनिता चट्टोराज आदि ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये।

प्रस्तुति : डॉ. अर्चना पाण्डेय

## उत्तर बंग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आयोजित राष्ट्रीय अंगोष्ठी

दिनांक 25, फरवरी, 2014 को उत्तर बंग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग', नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित 'हिन्दी आलोचना : दशा और दिशा' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी की संयोजक विभागाध्यक्ष डॉ. मनीषा झा ने विषय का प्रवर्तन करते हुए कहा कि साहित्यिक दुनिया में आलोचना का प्रश्न इस सदी का सबसे तूल पकड़ने वाला प्रश्न है। उन्होंने अपने वक्तव्य में आलोचना के बदलते परिदृश्य को रेखांकित करते हुए आज के विमर्शों के दौर में उलझी आलोचना की सीमाओं को बतलाते हुए संगोष्ठी में स्वस्थ आलोचना के विविध स्वरूप पर विचार एवं विश्लेषण का आह्वान किया।

संगोष्ठी के अगले चरण में बीज भाषण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. श्री प्रकाश शुक्ल ने रखा। उन्होंने आलोचना की परम्परा को संस्कृत साहित्य की भाष्य परम्परा से जोड़ते हुए आज की तकनीकी दुनिया को साहित्य का सबसे बड़ा शत्रु बताया। उपभोक्तावाद के दौर में चेतना के स्तर का सही प्रबोधन नहीं हो पा रहा है जो मानव हृदय एवं चिंतन को संवेदित करे। आलोचना सर्जनात्मक एवं सकारात्मक होनी चाहिए।

राँची विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक एवं आलोचक डॉ. अरुण कुमार ने आलोचना के क्षेत्र में छाये उत्तर आधुनिक विमर्श की व्याख्या करते हुए हिन्दी आलोचना के वर्तमान परिदृश्य पर प्रकाश डाला। उत्तर बंग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में आये संकट की व्याख्या करते हुए इस बात का उल्लेख किया कि आज व्यावहारिक आलोचना तो लिखी जा रही है परन्तु सैद्धान्तिक आलोचना का सर्वथा अभाव है। सैद्धान्तिकी पश्चिम में तैयार हो रही है, क्योंकि ताकतवर देशों ने अपने समय के सर्जनात्मक लेखन को नियंत्रित करने के लिए जो नियम तैयार किए हैं उससे उनका बाजार बन रहा है।

इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रेसिडेन्सी कॉलेज के प्राध्यापक डॉ. वेद रमण, कालिया गंज कॉलेज के धनंजय साव, उत्तर बंग संत जेवियर कॉलेज के प्राध्यापक विनय कुमार पटेल, कर्सियांग कॉलेज के प्राध्यापक प्रशान्त सरकार, शोधार्थी संतोष कुमार गुप्ता ने भी शोध पत्र पढ़ा।

प्रस्तुति - गुलनाज बेगम

मो. 9434462850

**कमल किशोर गोयनका, दिल्ली :** 'अभिव्यंजना' का पुनर्प्रकाशन और वह भी चार दशक बाद, आपके साहस और निष्ठा का प्रयास है। ऐसे साहस, कहीं दुस्साहस साहित्य में दुर्लभ हैं।

आपकी 'संस्तुति' विचारों, चिंताओं का भंडार है, क्योंकि इसमें देश चिंता का महत् भाव-विचार विद्यमान है। इसे पढ़कर ये कह सकता हूँ कि आपने जो मुद्दे उठाये हैं, वे आपके मन-मस्तिष्क को बराबर मथते रहे हैं क्योंकि आप अपने देश भारत के लिए चिंतित हैं। देश की बिगड़ती परिस्थितियाँ, चारों ओर पतित होती व्यवस्था और 'लाभ और लोभ' का प्रलोभन पूरे देश को अवनति की ओर ले जा रहा है और एक देशभक्त नागरिक एवं पत्रिका-संपादक के नाते आपको चिंता है कि इस देश का क्या होगा। सब कुछ भाई-चारे वैचारिक एवं स्वार्थों की प्रतिबद्धता से हो रहा है और इससे गिरोह, मसीहा शक्तिशाली होते जा रहे हैं। हिंदी में शोध की दुर्दशा है, इसका तो मैं स्वयं साक्षी हूँ। जब तक योग्यता का, शोध कर्म की मौलिकता का, साधना का सम्मान नहीं होगा, विश्वविद्यालयों में दुर्गति रुक नहीं सकती।

आपने संकल्प लिया है कि आप अध्ययन-अध्यापन, शोध, संचार, सृजन आदि में गंभीरता, स्तरीयता और स्वस्थ दृष्टि की स्थापना करेंगी। देश की सुगति के लिए यही एकमात्र रास्ता है। देश, समाज, व्यक्ति, साहित्य, कला आदि सभी के लिए एक स्वस्थ राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता है। देश चारों ओर से शत्रुओं से घिरा है, देश के अंदर भी अनेक शत्रु सक्रिय हैं, नेता देश को लूट रहे हैं, समाज पतित हो रहा है, जीवन से नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का क्षरण हो रहा है, तब साहित्य ही एकमात्र आशा का केंद्र रह जाता है कि वह देश के अमंगल का हरण करे और मंगल की स्थापना करे- 'मंगल भवन अमंगल हारी'। 'अभिव्यंजना' के इस संकल्प का सहयात्री बनने में मुझे गर्व का अनुभव होगा। मुझे अच्छा लगा, आपके साथ अर्चना जी हैं। यह स्त्री सशक्तीकरण का ज्वलंत प्रमाण है। उधर राजीव कुमार वर्मा का प्रेमचंद की दलित चेतना पर लेख बहुत अच्छा है। पर उन्होंने कहानियों में दलित जीवन की चर्चा नहीं की और दलित कहानियों की संख्या 50 बताई है जो गलत है। मैं उन्हें भी पत्र लिख रहा हूँ।

शुभकामनाओं के साथ,

**पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', अमृतसर :** मुझे यह जानकारी नहीं थी कि 'अभिव्यंजना' पुनः प्रकाशित हो रही है। जब आपके कार्यालय से जनवरी-मार्च, 2014 का प्रेषित अंक प्राप्त हुआ तो मालूम हुआ। मैं इसके दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि यह हिंदी पाठकों के बीच लोकप्रिय एवं प्रशंसित होगी।

**कुसुम खेमानी, कलकत्ता :** आपके द्वारा भेजी 'अभिव्यंजना' की प्रति मिली। पत्रिका देखी और आपके चयन को देखकर आपको साधुवाद देने की प्रबल इच्छा हुई। अतः यह पत्र ?

पत्रिका के 2 और 3 कवर पृष्ठों पर प्रकाशित दोनों की कविताएँ लुभावनी लगीं और आज के समय में स्त्री का घोषणापत्र विशेष मूल्यवान लगा। आपने पुराने और नये विषयों को सुंदरता से सम्मिलित किया है।

**शिवकुमार अर्चन :** पहली बार 'अभिव्यंजना' को पढ़ने का सुअवसर मिला। समय सापेक्ष इस पत्रिका का स्वर लघु पत्रिकाओं की भीड़ में अलग सुनाई देता है और आश्चर्य करता है। हिंदी साहित्य की प्रायः सभी प्रमुख विधाएं पत्रिका में उपस्थित हैं। बाजारवाद, भूमंडलीकरण, दलित समस्या, स्त्री विमर्श, सांप्रदायिकता के विमर्श आलेख चिन्तनपरक और सारगर्भित हैं। निरन्तर क्षरित हो रहे मूल्यों के प्रति आपका संपादकीय वाजिब हस्तक्षेप है। 'अभिव्यंजना' के पुनर्प्रकाशन पर अनन्त शुभकामनाएँ।

**प्रोफेसर (डॉ.) धनंजय वर्मा :** 'अभिव्यंजना' का जनवरी-मार्च 2014 का अंक मिला। डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र और डॉ. हरेराम पाठक के आलेख सुचिंतित हैं। ज्ञानप्रकाश पाण्डेय के आलेख में मेरा नामोल्लेख तो है लेकिन संदर्भ के अभाव में वह मुझ पर अभियोग-सा लगता है। बरसों पहले 'धर्मयुग' में मैंने लिखा था कि 'ग़ज़ल को ग़ज़ल ही रहने दें' उसमें हिन्दी या अन्य किसी भाषा के विशेषण की क्या ज़रूरत है। हिन्दी ग़ज़ल के नाम से ग़ज़ल की विद्या के साथ जो ज्यादाती हो रही थी (है) उस पर मेरी सख्त टिप्पणी थी। बहरहाल, डॉ. विनय कुमार पटेल से मेरी गुजारिश है कि साम्प्रदायिकता के नुक्त-ए-नज़र से हिन्दी उपन्यास पर बात करते हुए शानी के 'कालाजल', मंज़ूर एहतेशाम के 'सूखा बरगद' और परवेज़ अहमद के 'मिर्जा वाडी' को भी ध्यान में रखना चाहिए। अनुशीलन में डॉ. अर्चना पाण्डेय का कहानी विमर्श और 'विमर्श' में डॉ. नीरजा माधव की टिप्पणियाँ सार्थक ही नहीं विचारोत्तेजक भी हैं। डॉ. मनीषा झा की कविताओं का अपना अलग अंदाज़ आकर्षित करता है। भाषान्तर, संचार और अन्तःपाठ भी काबिले-गौर और विचारोत्तेजक हैं। कुल मिलाकर पत्रिका शोध-अनुसंधान और सार्थक वैचारिकता के साथ रचनात्मकता के नये तेवर के लिहाज से भी उल्लेखनीय है। हिन्दी पत्रिकाओं की समकालीन भीड़ में अपनी अलग पहचान दर्ज करती है। कृपया बधाई और धन्यवाद दोनों स्वीकार करें।

**डॉ. हरेराम पाठक, असम :** 'अभिव्यंजना' का पुनर्प्रकाशन जनवरी-मार्च 2014 अंक प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। 'संस्तुति' शीर्षक से छपा संपादकीय भूमण्डलीकरण के पीड़ादायक दौर में समाज, साहित्य, राष्ट्र की बदहाली एवं छद्मवेषी स्वरूप का बखूबी चित्रण करता है। आश्चर्य की बात है कि एक लम्बे अंतराल के बाद भी 'अभिव्यंजना' का अंक आया है तो विविधमयी सारगर्भित सामग्री के साथ। आलेख, गवेषणा, कहानी, अनुशीलन, कविता, नई पहल नया कदम, विमर्श, भाषान्तर, संचार, अंतःपाठ, गतिविधियाँ, परिशिष्ट आदि बारह शीर्षकों में विभाजित पत्रिका का वृहद कलेवर संपादक मंडल तथा इससे जुड़े सभी व्यक्तियों की साहित्यिक निष्ठा एवं सुव्यवस्थित दृष्टिभंगिमा को दर्शाता है। डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र ने हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य समीक्षा के सकारात्मक प्रभाव को द्रष्टा-भाव से विवेचित किया है जो वास्तव में गंभीर एवं सामान्य दोनों प्रकार के अध्येताओं के लिए मनन करने योग्य है। ग़ज़ल पर ज्ञानप्रकाश पाण्डेय का आलेख भी विचारोत्तेजक है। विनय कुमार जी का भूमंडलीकरण के संदर्भ में गवेषणात्मक आलेख में कई दृष्टियों से विचार किया गया है। 'अनुशीलन' में डॉ. अर्चना पाण्डेय हों, डॉ. सुनीता साव, डॉ. पुनीत कुमार राय अथवा डॉ. गायत्री सिंह सभी अपने आप में बेजोड़ हैं। 'विमर्श' में डॉ. नीरजा माधव का आलेख 'तुलसी की ताड़ना' की ओर मैं विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। लेखिका ने परंपरागत तरीके से तुलसी का हरसंभव बचाव किया है। आज के उग्र नारीवाद द्वारा तुलसीदास पर निरंतर किए जा रहे प्रहार के लिए यह आलेख निश्चय ही मरहम पट्टी का काम करेगा। लेकिन एक बात जो हमें हमेशा नवीन चिंतन के लिए आमंत्रित करती है और वह यह है कि गोस्वामी तुलसीदास ने 'नानापुराणनिगमागम' से जो बातें सीधे मानस में ली हैं अथवा अनूदित की हैं उसका भी सम्यक विवेचन होना चाहिए। नारी एवं शूद्र संबंधित विवादित उक्तियाँ चाणक्य नीति, पंचतंत्र आदि ग्रंथों से अनूदित हैं।

इस पार तक...



समय में चेतना के जादुई रंग को भले वाले रचनाकार

गैब्रियल गार्सिया मारक्वेज

(6 मार्च, 1928-17 अप्रैल 2014)

स्मृति-शेष

लातिन अमेरिका कोलम्बिया के स्पेनी भाषा में लिखने वाले कथाकार एवं पत्रकार गैब्रियल गार्सिया मारक्वेज नहीं रहे। उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में साप्ताहिक को ईमानदारी से प्रतिष्ठित करने की शुरुआत चलाई। मानवों की विचारधारा एवं आन्दोलन से जुड़े होने के कारण उन्हें अस्सी के दशक में कुछ समय के लिए अपने निवास कोलम्बिया से निर्वासित रहना पड़ा। उन्होंने कई उपन्यास एवं कहानियाँ लिखीं। उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'एकान्त के सौ वर्ष' को 1982 में नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया। वे विश्व साहित्य में जादुई यमार्ग के प्रणेता रहे हैं। यमार्ग की फलदायी में सराबोर कर जादुई दुनियाँ की अद्भुत निर्मिति मारक्वेज की देन रही है। वे नहीं अभिव्यक्ति की आगवदी के पुरोधा रहे हैं बल्कि जादुई यमार्ग के प्रणेता भी।

अभिव्यक्तियों एवं विद्याधी मंच

उनके लिए अर्पण है।



प्रकाशक - जगन्नाथ कुमार सिन्हा

विभाग - वी. १०, आशुतोष मुखर्जी लेन, बलराम, हावड़ा - ६

मुद्रण : शिक्षण, ५०, श्रीवर्धन रोड, इंदूर, कोलकाता-७०० ००९

संपादक - डॉ. नील सिन्हा